कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा

शिवप्रसाद सिंह

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

गुरुवर
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को
प्रणति पूर्वक

निवेदन

यह पुस्तक एम० ए० परीक्षा के एक प्रश्न पत्र के स्थान पर लिखे गए निबन्ध का प्रकाशित रूप है जिसे मैंने १९५३ में प्रस्तुत किया। आरम्भ में मेरे निबन्ध का विषय 'कीर्तिलता की भाषा का अध्ययन' था। मैंने इस विषय के सम्बन्ध में श्रद्धेय डा० बाबूराम सक्सेना जी से परामर्श किया। उन्होंने अपने २९ अगस्त १९५१ के पत्र में लिखा कि अवहट्ठ और अपभ्रंश में यदि अन्तर स्पष्ट हो सके तो बहुत काम निकल सकता है। इस परामर्श के अनुसार मैंने अवहट्ठ भाषा के स्वरूप का निर्धारण भी इस निबन्ध का उद्देश्य मान लिया। फलतः १९५३ में यह थीसिस 'अवहट्ट भाषा का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषा शास्त्रीय अध्ययन' के रूप में उपस्थित की गई। बाद में गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने इस निबन्ध को कीर्तिलता के संशोधित पाठ के साथ प्रकाशित कराने का आदेश दिया। कीर्तिलता का पाठ-शोध एक कठिन कार्य था; परन्तु मैंने इसे प्रसन्नता से स्वीकार किया क्योंकि भाषा विषयक अध्ययन के सिलसिले में मैंने प्रायः प्रत्येक शब्द पर एकाधिक बार विचार किया था; साथ ही इस पुस्तक के अधिकांश शब्दों की अनुक्रमणी भी प्रस्तुत हो गई थी। इस प्रकार यह पुस्तक अवहट्ट और कीर्तिलता की भाषा के साथ मूल शोधित पाठ एवं विस्तृत शब्द सूची के साथ इस रूप में प्रकाशित की गई।

अवहट्ट भाषा के बारे में यह पहला विस्तृत अध्ययन है, इसलिए इसमें त्रुटियाँ हो सकती हैं और मेरे व्यक्त मतों के साथ मतभेद भी संभव है; किन्तु अपभ्रंश और अवहट्ट के बीच का अन्तर स्पष्ट करने के लिए मैंने जो सामग्री उपस्थित की है, वह अवश्यमेव विचारणीय है। परवर्ती अपभ्रंश में हिन्दी भाषा की आरम्भिक अवस्था के रूपों का अन्वेषण का प्रयत्न इसी सामग्री पर आधारित है। इसका संक्षिप्त-सा रूप 'अवहट्ट की मुख्य विशेषताएँ' शीर्षक से नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ५८ अंक ४ सम्वत् २०११) अप्रैल १९५४ में प्रकाशित हुआ। तिथि क्रम की ओर संकेत इसलिए करना पड़ता है कि अन्यत्र सादृश्य सूचक अपहृत सामग्री को देखकर पाठक उलझन में न पड़ें।

कीर्तिलता भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है। मध्यकाल की कोई भी रचना इतने पुराने और अत्यन्त विकासशील भाषा के तत्त्वों को इतने

त्रिविध रूपों में सुरक्षित नहीं रख सकी है। कीर्तिलता की भाषा के विश्लेषण के साथ पुरानी हिन्दी का तारतम्य और सम्बन्ध दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है।

संशोधित पाठ को यथा संभव वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित किया गया है। लेखक इसके लिए महामहोपाध्याय पं० हर प्रसाद शास्त्री और डा० बाबूराम सक्सेना का आभारी है जिनके संस्करणों से इस दिशा में पर्याप्त सहायता मिली। डा० सक्सेना के प्रति लेखक विशेष रूप से कृतज्ञ है जिनके पथभृथ कार्य के बिना इस नये संस्करण का निर्माण संभव न था। प्रस्तुत संस्करण में मूल रचना का हिन्दी भाषान्तर भी दे दिया गया है, उस भाषान्तर को यथा संभव त्रुटिहीन और पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। अप्रचलित और पुराने शब्दों के अर्थ निर्धारण में कहीं कहीं अनुमान से काम लेना पड़ा है अन्यथा अधिकांश शब्दों का साधार और प्रमाणयुक्त अर्थ देना ही उद्देश्य रहा है। अन्त में कीर्तिलता शब्दों की एक बृहद् सूची भी जोड़ दी गई है, जिसमें शब्दार्थ के साथ व्युत्पत्ति की ओर भी संकेत कर दिया गया है।

गुरुवर पंडित करुणापति त्रिपाठी ने अप्रकाशित पाण्डुलिप को आद्यन्त पढ़कर कई बहुमूल्य सुझाव दिए, लेखक उनके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता है। आचार्य द्विवेदी जी ने इस निबन्ध के लिए विषय तय किया, निर्देश किया, और पढ़ा-बताया, पाठ के एक-एक शब्द को उन्होंने देखा-सुना, आँख में दर्द रहने पर भी उन्होंने जिस उत्साह से यह सब कुछ किया वह उनके स्नेह-वात्सल्य का परिचायक है, इसे कृतज्ञता प्रकट करके आँकने की धृष्टता मैं नहीं कर सकता। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनकी रचनाओं से लेखक को किसी प्रकार की भी सहायता मिली। सुधी पाठकों से निवेदन है कि इस पुस्तक में यत्र-तत्र प्राप्त छापे की अशुद्धियों को सुधार लें, आगामी संस्करण में उन्हें अवश्य ठीक कर दिया जायेगा। अन्त में भाई नर्मदेश्वर चतुर्वेदी जी को मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अत्यन्त उत्साह और दायित्वपूर्वक इस पुस्तक को प्रकाशित किया।

हिन्दी विभाग
विश्व विद्यालय, काशी
रक्षा बन्धन, १९५५

शिव प्रसाद सिंह—

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक को शिवप्रसाद जी ने एम० ए० (१९५३) के एक प्रश्नपत्र के स्थान पर निबंध के रूप में लिखा था। आरंभ में 'अवहट्ट भाषा का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषा शास्त्रीय विवेचन' इस निबंध का वक्तव्य विषय था। बाद में कीर्तिलता के मूल पाठ को भी, नये रूप में संशोधन करके, इसमें जोड़ दिया गया। इस प्रकार यह पुस्तक अवहट्ट कही जाने वाली भाषा के स्वरूप तथा कीर्तिलता की भाषा के विस्तृत विवेचन के साथ ही साथ कीर्तिलता के पाठ का संशोधित रूप भी प्रस्तुत करती है। यद्यपि यह लेखक की एतद्विषयक आरंभिक रचना ही है, तथापि इससे उनकी विवेचना-शक्ति का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। कई स्थानों पर उन्होंने पूववर्ती मतों का युक्ति पूर्वक निरास भी किया है। यद्यपि उनके मत से कहीं कहीं पूर्णतः सहमत होना कठिन होता है तथापि उनकी सूझ, प्रतिभा और साहस का जैसा परिचय इस पुस्तक से मिलता है, वह निश्चित रूप से उनके उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

कई दृष्टियों से कीर्तिलता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। भाषा की दृष्टि से इसका महत्व तो बहुत पहले ही स्वीकृत हो चुका है। इसमें अवहट्ट (अवहट्ठ) या अग्रसरीभूत अपभ्रंश भाषा का नमूना प्राप्त होता है और प्राचीन मैथिल अपभ्र श के चिह्न भी मिलते हैं। छन्द, काव्य-रूप तथा गद्य आदि की तत्कालीन स्थिति पर भी इस पुस्तक से बहुत प्रकाश पड़ता है। इसके काव्य-रूप के महत्व का थोड़ा विचार मैंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य' में किया है। यहाँ उन बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस पुस्तक में प्रयुक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के सम्बन्ध में कुछ नये सिरे से कहने में कोई हानि नहीं है। शिवप्रसाद जी ने पुस्तक में प्रयुक्त अपभ्रंश (या अवहट्ठ) के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। परवर्ती अपभ्रंश में प्रारंभिक हिन्दी के भाषा-तत्वों को ढूढ़ने का उनका प्रयत्न सराहनीय है। किन्तु अवहट्ठ भाषा के इस महत्वपूर्ण रूप पर विचार करने के साथ ही इस पुस्तक में प्रयुक्त संस्कृत पदावली और उसके रूप को भी ध्यान में रखना चाहिए। कीर्तिलता में प्रयुक्त गद्य, उसकी संस्कृत बहुत पदावली और संस्कृत पदावली के बीच आए प्राकृत-प्रभावापन्न संस्कृत शब्द भी भाषा-विकास के अध्येताओं के लिए मनोरंजक और उपादेय हैं। इस पुस्तक में प्रयुक्त गद्य संभवतः इस बात की सूचना देते हैं कि चौदहवी शताब्दि में पद्य की भाषा में तो तद्भव शब्दों का प्रयोग होता था किन्तु बोल चाल की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। भारतीय साहित्य में —विशेषकर

काव्य में—प्रयुक्त भाषा बराबर थोड़ा-बहुत पुरानापन लिए होती है। अपभ्रंश के कवि बिना किसी झिझक के प्राकृत पदों और क्रिया रूपों का व्यवहार कर देते हैं और परवर्ती काल में विकसित वर्तमान आर्य भाषाओं के कवि भी अपभ्रंश-प्राकृत और कभी कभी संस्कृत का भी प्रयोग कर दिया करते हैं। तुलसीदास जी 'रोदति वदति बहुभाँति' जैसे प्रयोग अनायास कर जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों को देखकर यदि कोई कहे कि तुलसीदास जी के युग में 'रोदति' 'वदति' जैसी क्रियाओं का प्रयोग होता था तो यह अनुमान ठीक नहीं होगा। वस्तुतः काव्य की भाषा में कुछ प्राचीनता लिए हुए प्रयोग सदा होते रहते हैं। बहुत हाल में खड़ी बोली के 'असिधारा व्रत' के समर्थक कवियों ने इस चिराचरित प्रथा से बचना चाहा है; पर सब समय बच नहीं सके हैं। विद्यापति की कीर्तिलता को भाषा में भी कभी कभी पुरानी प्राकृतों के प्रयोग मिल जाते हैं। उन सबको तत्कालीन व्यवहार की भाषा के प्रयोग नहीं समझना चाहिए। विद्यापति द्वारा प्रयुक्त पद्य-भाषा में प्राकृत के पुराने पदों के साथ ऐसे पदों और क्रिया रूपों का प्रचुर प्रयोग हुआ है जो तत्काल व्यवहृत भाषा में प्रचलित थे; परन्तु गद्य में संस्कृत पदावली के प्रयोग से अनुमान किया जा सकता है कि उस काल की बोल-चाल की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग होने लगा था।

कीर्तिलता संस्कृत की कथा या आख्यायिका काव्यों की पद्धति पर लिखी गई है। अपभ्रंश काव्यों में कथा को उसी श्रेणी का अलंकृत काव्य माना गया है जिस श्रेणी की रचनाएँ संस्कृत में मिलती हैं। पुष्पदन्त कवि के नागचरित में एक स्थान पर एक अलंकार-हीना रानी की उपमा कुकविकृत कथा से दी गई है जो यह सूचित करता है कि अपभ्रंश कवियों की कथा में अलंकार और रस देने की रुचि थी। विद्यापति ने भी कीर्तिलता की भाषा को अलंकृत करने का प्रयत्न किया है। दामोदर भट्ट की पुस्तक 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' से पता चलता है कि उन दिनों कहानियों में गद्य का भी प्रयोग होता था। संभवतः संस्कृत के चम्पू काव्यों के ढंग की ये रचनाएँ हुआ करती थीं। रुद्रट के सामने जो संस्कृतेतर भाषाओं की कथाएँ थीं, उनमें भी कहीं गद्य का प्रयोग होता था। अपभ्रंश के चरित काव्यों में तो इस प्रकार के गद्य का लोप ही हो गया किन्तु जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है विद्यापति की कीर्तिलता की भाषा में गद्य का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह ठीक है कि संस्कृत के कथा, आख्यायिका, और चम्पू श्रेणी के काव्यों के आदर्श पर विद्यापति ने गद्यों में प्रयुक्त संस्कृत बहुल पदावली को सरस और अलंकृत करने का प्रयत्न किया है और इसीलिए साधारण जनता के बीच

प्रचलित शब्दराशि से यह थोड़ी भिन्न है तथापि इस गद्य से इतना अवश्य सूचित होता है कि तद्भव शब्दों का प्रयोग पद्य में होता था और बोल चाल के गद्य में तत्सम शब्द ही चलते थे।

इस संस्कृत पदावली की कई विशेषताएं हैं। प्रथम तो यह कि यद्यपि यह पदावली संस्कृत की है और लम्बे लम्बे समास संस्कृत के नियमों के अनुसार ही रचित हुए हैं फिर भी यह भाषा संस्कृत नहीं है। इसमें तद्भव और 'अर्द्ध'-तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में हैं। क्रिया पद तत्काल प्रचलित मैथिली भाषा के हैं। विभक्तियों और परसर्गों की भी यही कहानी है। वाक्यों या वाक्यांशों के अन्तिम पदों में तुक मिलाने का प्रयास है। सर्वनाम पद सस्कृत के न होकर मैथिल या अपभ्रंश के हैं।

संस्कृत की समस्त पदावली के बीच ऐसे शब्द प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं जो प्राकृत प्रभावापन्न हैं। खुर, फंण, सरे, कित्तिम, तारुन्न, परसुराम, चन्द चूड़, गेह, कवितुः, संयद्द, जाती आदि शब्द समस्त पदावली के बीच आए हैं। इसमें तो सन्देह नहीं कि कीर्तिलता के जो हस्तलेख प्राप्त हुए हैं वे बहुत दोष-पूर्ण हैं। इनमें प्रयुक्त अनेक शब्द लेखकों की असावधानी के कारण आ गए होंगे, यह संभव है। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या काफी अधिक है और ऐसा जान पड़ता है कि विद्यापति इन्हें बोलचाल के शब्द ही समझ कर लिख रहे हैं, संस्कृत शब्द नहीं।

संस्कृत के विशाल साहित्य में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जो प्राकृतों के प्रभाव के निदर्शन रूप में प्राप्त हैं। स्वयं पाणिनि और कात्यायन ने कितने ही ऐसे शब्दों को शुद्ध और टकसाली मान लेने की व्यवसथा दी है जो संस्कृत के नियमों से सिद्ध नहीं होते। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में ऐसे शब्द बहुत अधिक हैं जिनमें मुख-सुख या उच्चारण-सौविध्य के उन सभी नियमों का प्रयोग हुआ है जो प्राकृत की विशेषता कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ 'न' का 'ण' हो जाना या 'श' का 'स' हो जाना प्राकृत की विशेषता है। परन्तु आपस्तंबश्रौत-सूत्र जैसे प्राचीन ग्रन्थ में नाम के स्थान पर 'णाम' (१०-१४-१) और अनूक के स्थान पर 'अणूक' जैसे प्रयोग मिल जाते हैं। लौकिक संस्कृत में मानव के साथ 'क' प्रत्यय के योग से ही 'माणवक' बना होगा, ऐसा भाषा शास्त्रियों का कथन है 'प्रियाल' शब्द को कालिदास ने मुलायम करके 'पियाल' उसी प्रकार बना दिया है जैसा कीर्तिलता के कवि ने प्रेम को 'पेम' बना दिया है। इस प्रकार संस्कृत के विपुल साहित्य में प्राकृत प्रभावापन्न शब्दों की संख्या बहुत अधिक है

परवर्ती काल में प्राकृत के शब्दों के प्रयोग से अनुप्रास-यमक-आदि ले आने का प्रयास भी किया गया है और कोमलता लाने का प्रयत्न भी हुआ है। कभी ऐसे ही शब्दों को ग्राम्य बताकर अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने कवियों की खबर भी ली है। संस्कृत 'गण्ड' से गल्ल बनता है और 'भद्र' से 'भल्ल'। किसी कवि ने 'ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लो जल्पति मनुष्यः' में इन दो शब्दों के प्रयोग से अनुप्रास लाने का प्रयत्न किया है पर मम्मट भट्ट ने इसे ग्राम्य प्रयोग कहकर अनुचित बताया है। जयदेव की मधुर पदावली में अनेक प्राकृत शब्द अनायास ही आ गए हैं। 'मेघैर्मेदुरमम्बरं' में मेदुर 'मृदु+र' का प्राकृत रूप ही है। इस तरह संस्कृत पदावली के बीच में प्राकृत शब्दों का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। विद्यापति की कीर्तिलता में भी इसी प्रकार भाषा को कोमल बनाने के लिए संस्कृत की समस्त पदावली के अन्दर प्राकृत शब्दों का प्रयोग किया गया है। फिर भी इन शब्दों के प्रचुर प्रयोगों को देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि विद्यापति संस्कृत शब्दों के तत्काल-उच्चरित रूपों का प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रकार के ईषद् घिसे हुए तत्सम शब्दों के प्रयोग 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में भी मिल जाते हैं। जो सूचित करते हैं कि बोलचाल में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग विद्यापति से दो तीन सौ वर्ष पहले से ही होने लगे थे। इसी प्रकार ईकार का इकार, ऊकार का उकार और इनकी उलटी प्रक्रियाएं भी लौकिक संस्कृत में प्राप्त हो जाती हैं। उदाहरण बढ़ाने से इस भूमिका का कलेवर अनावश्यक रूप से बढ़ जायगा। कीर्तिलता के संस्कृत तत्सम और अर्द्धतत्सम रूप भाषा प्रेमियों के लिये अत्यन्त मनोरंजक और महत्वपूर्ण हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

लेखक ने भाषा सम्बन्धी विवेचना के साथ पाठ-शोध का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है वह भाषा और साहित्य की कई उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होगा, ऐसा विश्वास है। शब्दार्थ और विस्तृत शब्द सूची देकर संपादक ने पुस्तक का महत्त्व बढ़ा दिया है। इन बातों से पुस्तक साहित्य और भाषा के शिक्षार्थियों के लिये अधिक उपयोगी हो गई है।

शिवप्रसाद जी के इस परिश्रम पूर्वक लिखी हुई पहली विवेचना और निष्ठा पूर्वक साम्पादित प्रथम पुस्तक को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है परमात्मा से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि उन्हें अधिक शक्ति और सामर्थ्य दें ताकि वे निरन्तर साहित्य की सेवा करके उसे समृद्ध बनाते रहें।

काशी
२८-७-५५

हजारी प्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

(अवहट्ट का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषाशास्त्रीय अध्ययन)

द्वितीय खण्ड

प्रथम खण्ड

अवहट्ट भाषा का स्वरूप और कीर्तिलता का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

अवहट्ट भाषा का स्वरूप

अवहट्ट क्या है

भाषा-शास्त्रियों के बीच अवहट्ट काफी विवाद का विषय रहा है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कभी इसे मैथिल अपभ्रंश, कभी संक्रान्तिकालीन भाषा और कभी पिंगल आदि नाम दिये हैं। यह विचारणीय है कि अवहट्ट शब्द क्या है और इसका प्रयोग अब तक के उपलब्ध साहित्य में किस-किस रूप में हुआ है।

१. अवहट्ट का सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ई०) में मिलता है। राजसभाओं में भाट जिन छः भाषाओं का वर्णन करता है उसमें एक अवहट्ट भी है :

> **पुनु कइसन भाट, संस्कृत, पराकृत, अवहट्ट, पैशाची, शौरसेनी मागधी, छहु भाषाक तत्त्वज्ञ, शकारी आभिरी चांडाली, सावर्ली द्राविली, औतकली, विजालिया, सातहु, उपभाषाक कुशलह । वर्णरत्नाकर ४४ ख।**

२. दूसरा प्रयोग विद्यापति की कीर्तिलता में हुआ है। अपनी भाषा के बारे में विचार व्यक्त करते हुए कवि कहता है :

> **सक्कय वाणी बुहअन भावइ**
> **पाउंअ रस को मम्म न पावइ**
> **देसिल वअना सब जन मिट्ठा**
> **तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा**

कीर्तिलता १।१६-२२

३. तीसरा प्रयोग प्राकृत-पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने किया है उनकी राय से प्राकृत पैंगलम् की भाषा अवहट्ट ही है।

> **पढमं भास तरंडो**
> **णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)**

टीका : प्रथमो भाषातरंडः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थः त...प्प पारंप्राप्नोति तथा पिंगल

प्रणीत छन्दः शास्त्रं प्राययावहट्ट भाषारचितैः तद्ग्रन्थ
पारंप्राप्नोतीति भावः सो पिंगल णाओ जअइ उत्कर्षेण वर्तते ।

प्राकृत पैंग्लंम् पृ० ३ ।

४. चौथा प्रयोग संदेशरासक के रचयिता अहमाण ने किया है ।

अवहट्ठय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भाषाए
लक्खणछन्दाहरणे सुकइतं भूसियं जेहि

सन्देशरासक, ६

इन चारों प्रयोगों पर विचार करने से पता चलता है कि अवहट्ट का प्रयोग सब जगह अपभ्रंश के लिए ही किया गया है । षट्भाषा प्रसंग में सर्वत्र संस्कृत प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश का ही नाम लिया जाता है । षट्भाषा का रूढ़ प्रयोग हमारे साहित्य में कई जगह हुआ है । लोष्टदेव कवि की प्रशंसा में मंख कहता है कि छः भाषाएँ उसके मुख में सदैव निवास करती हैं ।[१] जयानक सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज की बड़ाई करता है और कहता है कि छः भाषाओं में उसकी शक्ति थी ।[२] ये छः भाषाएँ कौन थीं । मंख के श्रीकंठ चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, अपभ्रंश, मागधी, पैशाची और देशी की गणना होती थी:

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा
ततोपि मागधी प्रागवत् पैशाची देशजाऽपि च

नवीं शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में छः भाषाओं के प्रसंग में अपभ्रंश को भी स्थान दिया है ।

प्राकृत संस्कृत मागध पिशाचभाषाश्च शौरसैनी च
षष्टोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ।

काव्यालंकार २।१

ऊपर के श्लोक की छः भाषाएँ ज्योतिरीश्वर के वर्णरत्नाकर के उदाहरण से पूर्णतया मेल खाती हैं । इन प्रसंगों से स्पष्ट मालूम होता है कि अपभ्रंश को ही ज्योतिरीश्वर ने अवहट्ट कहा है ।

---

१. मुखे यस्य भाषाः षडधिशेरते (श्रीकंठ चरित : अन्तिमसर्ग)

२. बाल्येऽपि लीला जिततारकाणि गीर्वाणवाहिन्युपकार काणि
जयन्ति सोमेश्वर नन्दस्य षण्णां गिरां शक्तिमतो यशांसि

पृथ्वी राज विजय (प्र० स०)

विद्यापति और अद्दहमाण ने संस्कृत प्राकृत और अवहट्ट इन तीन भाषाओं की चर्चा की है। यह भाषात्रयी भी काफी प्रसिद्ध है। संस्कृत प्राकृत के साथ अपभ्रंश की तीन भाषाओं में गणना बहुत लोगों ने की है।

भाषा के विकास क्रम में संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश की गणना होती ही है। भामह, दंडी आदि आलंकारिकों द्वारा प्रयुक्त भाषात्रयी में अपभ्रंश को सदा तीसरा स्थान दिया गया है। बलभी नरेश धारसेन के ताम्रपात्र में भी तीन भाषाओं के क्रम में तीसरा स्थान ही अपभ्रंश का है। इस प्रकार की भाषात्रयी के प्रसंग में संस्कृत प्राकृत के नामों के बाद अपभ्रंश का क्रम रूढ़ मालूम होता है। अतः विद्यापति की चोपाई और अद्दहमाण की गाथा का अवहट्ट शब्द भी इसी भाषात्रयी के क्रम को देखते हुए, अपभ्रंश के लिए ही व्यवहृत मालूम पड़ता है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है अवहट्ट शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के अर्थ में ही हुआ है। अवहट्ट शब्द की तरह अपभ्रंश के द्योतक कुछ और शब्दों का भी सन्धान मिलता है। अवब्भस, अवहंस, अवहत्थ आदि शब्दों के प्रयोग प्राचीन लेखकों की रचनाओं में मिलते हैं। अवहंस शब्द का प्रयोग प्राकृत भाषा के एक कवि ने किया है। अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका में श्री एल० वी० गाँधी ने आठवीं शताब्दी के उद्योतनसूरि की 'कुवलयमाला कहा' का एक उद्धरण दिया है, जिसमें अवहंस शब्द का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की प्रशंसा करते हुए कवि ने कहा है कि अपभ्रंश शुद्ध हो या कि संस्कृत-प्राकत मिश्रित हो, वह पहाड़ी कुल्या की तरह अप्रतिहतगति है तथा प्रणय कुपित प्रियतमा के संलाप की तरह मनोहर है।[1] इसी शब्द का प्रयोग कहीं अवब्भंस के रूप में भी होता था।[2] अपभ्रंश के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों ने इसी अर्थ में अपभ्रंश शब्द के लिए अवहंस और अवहत्थ का प्रयोग किया है। पुष्पदन्त कवि संस्कृत और प्राकृत के बाद 'अवहंस' का नाम लेते हैं।[3] प्रसिद्ध कलिकाल सर्वज्ञ कवि स्वयंभू ने अपनी रामायण में अवहत्थ शब्द का प्रयोग किया है।[4]

---

१. ता किं अवहंसं होइ ? तं सक्कय पय उभय सुद्धासुद्ध पय सम तरंग रंगत वग्गिरं, पणय कुविय पियमाणिनि समुल्लाव सरिसं मणोहरम्।

२. किं चिं अवब्भंस कआ दा।
(अल्फ्रेड मास्टर द्वारा B. S. O. A. S. भाग १३–२ में उद्धृत)

३. सक्कय पायउ पुणु अवहसउ, (महापुराण, सन्धि ५ कड़वक १८)

४. अवहत्थे वि खलु यणु णिरवसेसु रामायण १-४, हिन्दी काव्य धारा

अब हम यदि इन शब्दों के प्रयोगों के कालक्रम पर विचार करें तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। संस्कृत के आलंकारिकों ने अपभ्रंश भाषा के लिए सर्वत्र 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया या यह कि उनके द्वारा रखा हुआ यह नाम ही इस भाषा के लिए रूढ़ हो गया। किन्तु प्राकृत के कवियों ने इसे अवहंस कहा। अपभ्रंश के कवियों पुष्पदन्त आदि ने भी इसे अवहंस ही कहा। 'अवहट्ट' कहा अद्दहमाण ने, प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने, विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने। इस आधार पर विचार करने से लगता है कि 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग केवल परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने किया। क्या इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती अपभ्रंश के इन लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर किया। अपभ्रंश या अवहंस या बहु प्रचलित 'देसी' शब्द का भी प्रयोग कर सकते थे; परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि अवहट्ट शब्द पीछे का है और इसका प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में थोड़ी परिवर्तित भाषा के लिये किया। वंशीधर ने तो संस्कृत की टीका में सर्वत्र 'अवहट्ट' ही लिखा, जबकि संस्कृत में अपभ्रंश या अपभ्रष्ट का प्रयोग ही प्रायः होता था।

कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह प्रयोग जानकर हुआ और 'अपभ्रष्ट' की भी भ्रष्टता (भाषाशास्त्र की शब्दावली में विकास) दिखाने के लिए किया गया यानी इस शब्द के मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश के और भी अधिक विकसित होने की भावना थी।

अवहट्ट और परवर्ती अपभ्रंश

'अवहट्ट' नाम परवर्ती अपभ्रंश के कवियों की इच्छा से रखा गया हो या जिस भी किसी कारण से इसका प्रयोग हुआ हो, इसकी शब्दगत शक्ति इसे अपभ्रंश से भिन्न बताने में असमर्थ है। यह वस्तुतः परिनिठिष्त अपभ्रंश की ही थोड़ी बढ़ी हुई भाषा का रूप था और इसके मूल में पश्चिमी अपभ्रंश की अधिकांश प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। परवर्ती अपभ्रंश भाषा की दृष्टि से परिनिष्ठित से भिन्न हो गया था उसमें बहुत से नए विकसित तत्व दिखाई पड़ते हैं। विभक्तियों के एक दम नष्ट हो जाने अथवा लुप्त हो जाने के कारण अपभ्रंश काल में ही परसर्गों का प्रयोग आरंभ हो गया था, उनकी संख्या इस काल में और भी बढ़ गई। वाक्य के स्थानक्रम से अर्थबोध की प्रणाली निर्विभक्तिक प्रयोग का परिणाम थी, वह और भी सबल हुई। सर्वनामों तथा क्रियापदों में

बहुत सी नवीनताएँ दिखाई पड़ीं। इन सब को समष्टिगत रूप से देखते हुए यदि इस काल की भाषा के लिए अपभ्रंश से भिन्न किसी नाम की तलाश हो तो वह नाम बिना आपत्ति के 'अवहट्ट' हो सकता है। जैसा पहले ही कहा गया, इस शब्द में इस प्रकार के अर्थ की कोई ध्वनि न होते हुए भी उसके प्रयोक्ताओं के कालक्रम और उनकी भाषा की विशेषताओं को देखते हुए यह नाम कोई बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस निबंध में हम इसी परवर्ती अपभ्रंश के लिए यह नाम स्वीकार करते हैं।

हमारे विचार से अवहट्ट परवर्ती अपभ्रंश का वह रूप है जिसके मूल में परितिष्ठित अपभ्रंश यानी शौरसेनी है। व्यापक प्रचार के कारण इसमें कई रूप दिखाई पड़ते हैं। परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट भिन्न-भिन्न स्थानों की क्षेत्रीय भाषाओं से प्रभावित हुआ है, जैसा हर साहित्य भाषा होती है। उसके भीतर नाना क्षेत्रों के शब्द रूप मिलेंगे। चाहे पश्चिमी पूर्वी भेद भी कर सकते हैं, पर इन तमाम विभिन्नताओं के भीतर इसका एक ऐसा भी ढाँचा है जो प्रायः एक सा है। क्षेत्रीय भाषाओं का रंग कभी-कभी बहुत गाढ़ा हो गया है, वहाँ इसके ढाँचे को ढूँढ़ सकना मुश्किल है। पर इससे पश्चिम से पूरब तक इसके व्यापक प्रभाव का पता चलता है। इसी अवहट्ट के बारे में हम आगे विचार करेंगे। अन्य लोगों ने इसका कुछ भिन्न अर्थ भी किया है वहाँ इस शब्द के स्थान पर भ्रम निवारण के लिए परवर्ती अपभ्रंश का भी प्रयोग है।

अवहट्ट मिथिलापभ्रंश नहीं है

अवहट्ट भाषा के समुचित शास्त्रीय अध्ययन के अभाव के कारण कुछ विद्वानों ने इसे मिथिलापभ्रंश मान लिया। इसके मुख्यतया दो कारण थे। पहला यह कि अब तक एकमात्र कीर्तिलता अवहट्ट की प्रतिपाद्य सामग्री बनी हुई थी। दूसरा कारण अवहट्ट शब्द के प्रयोग से सम्बद्ध है। विद्वानों को विश्वास था कि अवहट्ट शब्द का प्रयोग अब तक केवल दो स्थानों में हुआ है। एक स्वयं विद्यापति ने कीर्तिलता में ही किया है दूसरा प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्ण-रत्नाकर में मिलता है। ये दोनों प्रयोग निःसन्देह मैथिल कवियों ने किए हैं, अतः विद्वानों ने इन प्रयोगों के आधार पर अवहट्ट को मिथिलापभ्रंश कह दिया। फिर भी जिन लोगों ने अवहट्ट को मिथिलापभ्रंश माना है उनके तर्कों और कारणों पर समुचित विचार अपेक्षित है। सर्व प्रथम कीर्तिलता के मान्य सम्पादक डा० बाबूराम सक्सेना ने कीर्तिलता की भूमिका में कीर्तिलता की भाषा को (अर्थात अवहट्ट को) आधुनिक मैथिली और मध्यकालीन [illegible] के बीच

को बताया।[1] दूसरी जगह उन्होंने कीर्तिलता के अपभ्रष्ट को मैथिल अपभ्रंश कहना उचित समझा।[2]

सक्सेना जी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोई खास तथ्य नहीं उपस्थित किए। शायद उन्होंने इस विषय को विवादास्पद समझा ही नहीं अथवा उन्होंने कीर्तिलता की भाषा की प्रान्तीय विशेषताओं पर दृष्टि रखते हुए यह चलता व्यक्तव्य दे दिया। कीर्तिलता की भाषा पर मैथिली का रंग अवश्य है, परन्तु उसके मूल में शौरसेनी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ हैं इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। कीर्तिलता की भाषा पर खास रूप से विचार करते समय हम इधर ध्यान आकृष्ट करेंगे। डा० उमेश मिश्र, डा० जयकान्त मिश्र ने भी कीर्तिलता की भाषा को मिथिलापभ्रंश स्वीकार किया है। इस दिशा में सबसे अधिक परिश्रम के साथ स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर ने अध्ययन किया और उन्होंने अवहट्ट को मिथिलापभ्रंश सिद्ध करने के लिए बहुत से कारण गिनाए हैं।[3] कई अन्य विद्वान् भी उनके तर्क और कारणों से सहमत हैं अतः परीक्षा के लिए उनके कारणों पर विचार आवश्यक है।

शिवनन्दन ठाकुर ने अवहट्ट को मिथिलापभ्रंश सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित कारण बताये हैं।

१—अवहट्ट के ग्रन्थों में ऐसे सैकड़ों शब्द मिलते हैं जो हेमव्याकरण के अपभ्रंश अध्याय से सिद्ध नहीं हो सकते।

२—अवहट्ट कभी शौरसेनी अपभ्रंश नहीं हो सकता। इस प्रसंग में उन्होंने कीर्तिलता के कुछ पद्य तथा पुरानी अपभ्रंश का निम्न दोहा उद्धृत किया है।

जइ केंवइ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु
पाणीउ नवइ सरावि जिवं सव्वगों पइसीसु

दोनों प्रकार के पद्यों की तुलना करते हुए उन्होंने बताया है कि कीर्तिलता की 'थि' विभक्ति (वर्तमान अन्य पुरुष) तथा 'ल' (भूतकाल) विभक्ति का व्यवहार अपभ्रंश में नहीं होता। सम्बन्ध की विभक्ति 'क' भी अपभ्रंश में नहीं पाई जाती। अपभ्रश में 'पावीसु' 'करीसु' 'पइसीसु' शब्दों की (भविष्यत् काल)

---

१. कीर्तिलता ना० प्र० सभा। ११८६, पृ० २३

२. वही, पृ० २०

३. महाकवि विद्यापति : 'अवहट्ट' सम्बन्धी निबन्ध

और सरावि शब्द की 'इ' (अधिकरण काल) विभक्तियाँ कीर्तिलता में नहीं पायी जातीं। पूर्वकालिक प्रत्यय ओप्पिणु तथा ओप्पि, सर्वनाम एहो तथा महु मिथिलापभ्रंश में नहीं पाये जाते। इस तरह मालूम होता है कि कीर्तिलता का अवहट्ट शौरसेनी अपभ्रंश नहीं है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ऊपर का तर्क सुनीति बाबू के उस व्यक्तव्य के विरोध में दिया गया है जिसमें उन्होंने अवहट्ट को शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ट रूप स्वीकार किया है।

३—सत्रहवीं शताब्दि के लाचन कवि की रागतरंगिणी के एक अंश से यह पता चलता है कि मिथिलापभ्रंश भी एक भाषा थी और वह मध्यदेशीय भाषा अर्थात् शौरसेनी से भिन्न थी।

४—ब्रजबुलि जिसे सुनीति बाबू ने विचित्र पद्य में व्यवहृत दुर्बोध भाषा कहा है और जिसमें पश्चिमी हिन्दी के रूपों के साथ बंगला और मैथिली का सम्मिश्रण बताया है, वस्तुतः प्राचीन मैथिली ही है।

(यहाँ प्राचीन मैथिली का अर्थ शायद मिथिलापभ्रंश से है।)

५—प्राकृतपैंगलम् के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अवहट्ट कौन सी भाषा है और इस ग्रन्थ में अवहट्ट के उदाहरण हैं कि नहीं, क्योंकि इस ग्रंथ में अवहट्ट शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

६—बाद में उन्होंने कीर्तिलता के कुछ संज्ञा सर्वनाम, लिंग वचन विशेषण, क्रिया आदि रूपों को लेकर उनकी मैथिली रूपों से तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कीर्तिलता की भाषा मिथिलापभ्रंश है।

जब हम इन तर्कों पर विचार करते हैं तो यह कहते मुझे संकोच नहीं होता कि सत्य की कसौटी पर ये बिल्कुल ही अप्रामाणिक और लचर सिद्ध होते हैं। पहले तर्क के विषय में कोई भी पूछ सकता है कि हेम व्याकरण के अपभ्रंश अध्याय से सिद्ध होने का क्या मतलब। भविषयत्तकहा की भूमिका में गुणे ने बहुत से ऐसे शब्दों के उदाहरण दिए हैं जो हेम व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। परमात्मप्रकाश और योगसार में भी ऐसे उदाहरणों की भरमार है। जो हो, खुद शिवनन्दन ठाकुर ने अपने पक्ष के मंडन के लिए एक भी उदाहरण नहीं दिया जो हेम व्याकरण से सिद्ध न होते हों, अतः उस दिशा में

विचार की संभावना ही समाप्त हो जाती है। अनुमान के आधार पर लगता है कि ऐसे शब्दों से उनका तात्पर्य या तो मैथिली के शब्दों से है या उन अपभ्रंश शब्दों से है जो घिस कर दूसरा रूप ले चुके हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि अवहट्ट चाहे वह पश्चिमी हो या पूर्वी, उस पर विभिन्न प्रान्तों की बोलियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जहाँ तक अन्य शब्दो के विकसित या परिवर्तित रूप का सम्बन्ध है वे स्पष्टतः अपभ्रंश के विकसित रूप हैं जो परवर्ती अपभ्रंश में पूर्ववर्ती से थोड़ा भिन्न हो सकते हैं। उन्होंने कीर्तिलता के कुछ पद्य और 'जइ केवंइ पावीसु' वाले दोहे की तुलना की है और सिद्ध किया है कि कीर्तिलता की भाषा शौरसेनी नहीं है। इस तुलना से स्पष्ट रूप से जिन बातों की ओर ध्यान जाना चाहिये था उधर विचार न करके और ही प्रश्न उठा दिया गया है। इस तुलना से तो स्पष्ट मालूम होना चाहिए था कि अपभ्रंश (पूर्ववर्ती) और अवहट्ट (परवर्ती अपभ्रंश) का क्या अन्तर है। खैर 'थि विभक्ति का प्रयोग शौरसेनी में नहीं होता कीर्तिलता में होता है। कीर्तिलता में थि' विभक्ति का प्रयोग केवल १३ बार हुआ है जब कि अन्य पुरुष वर्तमान में सामान्य वर्तमान के होइ, कहइ आदि तिङन्त क्रिया-रूपों का प्रयोग सैकड़ों बार हुआ है। कृदन्त से बने वर्तमान काल के रूपों का सामान्य वर्तमान के रूप में भी बहुत प्रयोग पाया जाता है। उसी प्रकार ल (भूतकाल) विभक्ति का प्रयोग भी प्रादेशिक प्रभाव है। पूर्वी क्षेत्र में यह प्रवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है। यह मैथिल की नहीं सम्पूर्ण मागधी अर्धमागधी-निसृत भाषाओं की अपनी विशेषता है। यह सत्य है कि सम्बन्धी की 'क' विभक्ति शौरसेनी में पाई जाती। कीर्तिलता में षष्ठी में प्रयुक्त परसर्गों में क के अलावा करे, को, करी, कर, का, को, के आदि रूप मिलते हैं। इसमें क और के मागधी प्रभावित हैं लेकिन बाकी सब शौरसेनी में मिलते हैं कर, करी और को तो ब्रज में पाये जाते हैं पर उनका मैथिल में मिलना असंभव ही है। पावीसु, करीसु आदि के रूपों के आधार पर भविष्य काल की विभक्तियों का निर्णय करना मुश्किल है। कीर्तिलता में 'होसउ' 'होसइ' के रूप में 'स' विभक्ति वाले रूप मिलते ही हैं। उसके अतिरिक्त 'ह' विभक्ति वाले रूप, जो शौरसेनी में भी भी मिलते हैं, बुज्झिह, करिह, धरिज्जिह, सीझिहइ आदि पदों में देखे जा सकते हैं।

साराविं में अधिकरण की 'इ' विभक्ति अवश्य है किन्तु यही 'इ' विभक्ति ही केवल शौरसेनी अपभ्रंश में हो ऐसी बात नहीं है अधिकरण की विभक्ति 'हिं'

और 'इ' दोनों का अपभ्रंश में प्राचुर्य है। अकारान्त शब्दों के साथ 'इ' का रूप ही 'ए' हो जाता है। इस 'ए' रूप का प्रयोग कीर्तिलता में सैकड़ों बार हुआ है। 'हि' विभक्तियुक्त प्रयोगों का भी वाहुल्य है। पूर्व कालिक प्रत्यय ओप्पिणु तथा ओप्पि का प्रयोग कीर्तिलता में नहीं हुआ है। परन्तु पूर्वकालिक क्रिया के लिए केवल ओप्पि और ओप्पिणु का ही प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश में नहीं होता। वहाँ तो आठ प्रकार के प्रत्यय प्रयोग में आते हैं।[१]

इ, इउ, इवि, अवि

एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु

कीर्तिलता में 'इ' का प्रयोग बहुलांश में पाया जाता है। एहो तथा मह पश्चिमी अपभ्रंश में मिलते हैं और कीर्तिलता में नहीं मिलते। एहो का ही रूप एहु (२।२३७) कीर्तिलता में मिलता है और तुम्ह, तासु, तसु, जो केहु, काहु, जेन, जसु आदि बहुत से पश्चिमी अपभ्रंश के सर्वनाम कीर्तिलता के प्रति पृष्ठ प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी इस तुलना का कोई मूल्य नहीं और इसके आधार पर यह कदापि नहीं सिद्ध होता कि कीर्तिलता की भाषा, जिसे वे अवहट्ट नाम देते हैं, शौरसेनी अपभ्रंश से कोई सम्बन्ध नहीं रखती।

सत्रहवीं शताब्दि के लोचन कवि की रागतरंगिणी का वह अंश इस प्रकार है :

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलापभ्रंशभाषयां

श्री विद्यापतिनिवद्धास्ता मैथिलीगीतगतयः प्रदर्शन्ते।

इस गद्यांश से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि लोचन कवि के मिथिला-अपभ्रंश का तात्पर्य अवहट्ट से या कीर्तिलता की भाषा से नहीं है। उनका तात्पर्य स्पष्ट रूप से विद्यापति की पदावली से है। वे "मैथिलीगीत गतयः" कह कर ही इसे स्पष्ट कर देते हैं। और वे देशी भाषाओं का वर्णन कर रहे थे इसी से उन्होंने 'देश्यामपि स्वदेशीयत्वात्' कहा। मैथिल भाषा उनके लिए स्वदेशी थी। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग वैयाकरणों, लेखकों एवं कवियों ने बड़ी स्वच्छन्दता से किया है। यहाँ अपभ्रंश का प्रयोग मैथिली भाषा के लिए ही हुआ है, जिसमें विद्यापति के पद लिख गए हैं।

ब्रजबुलि का प्रचार मिथिला में अवश्य था किन्तु वह प्राचीन मैथिली ही है इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ब्रजबुलि ब्रजभाषा और मैथिल का

---

१. हेम। ८।४।३३९, ४०।

समिश्रण है। और ब्रजबुलि के प्रसार से ही यह बात और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि कनिष्ठ शौरसेनी अपभ्रंश का संक्रान्ति युग में पूरे बंगाल, मिथिला आदि पर फैल जाना मुश्किल नहीं है। "ब्रजबुलि इस बात क द्योतक है कि एक बनावटी भाषा भी दूसरे प्रान्त में काव्य भाषा के रूप में किस प्रकार ग्रहण की जा सकती है और इसी से इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि किस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट मध्यदेश के अलावा बंगाल आदि में छाया हुआ था।"[1]

जहाँ तक प्राकृत पैंगलम् की भाषा का सवाल है उसके टीकाकार ने उसे अवहट्ट कहा है।[2] यद्यपि उस अवहट्ट का अर्थ शिवनन्दन ठाकुर का अवहट्ट (मिथिलापभ्रंश) नहीं है। प्राकृत पैंगलम् परवर्ती अपभ्रंश का अच्छा नमूना है है और उसकी भाषागत विशेषताओं पर आगे विचार किया जायेगा।

अन्त में उन्होंने जो कीर्तिलता के कुछ रूपों और मैथिली भाषा के रूपों में साम्य दिखाए हैं वे बहुत थोड़े हैं और उन्हें देशगत विशेषता मान लेने से तर्क समाप्त हो जाता है। ऊपर के विवाद का उत्तर विस्तार से इसीलिए देना पड़ा कि उससे अवहट्ट को मिथिलापभ्रंश मानने के भ्रम का परिहार तो हो ही, साथ ही इसके मूल में पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ है इसकी भी हल्की झलक मिल जाय। इसी तरह अवहट्ट को केवल प्रान्तीय प्रभावों को देखकर अन्य क्षेत्रीय नाम नहीं देने चाहिए।

अवहट्ट और पिंगल

कुछ लोगों का कहना है कि अवहट्ट पश्चिमी प्रान्तों में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। "खासकर राजस्थान में अवहट्ट पिंगल नाम से प्रख्यात था और स्थानीय चारण समान रूप से इस पिंगल और अपनी देशी भाषा डिंगल में रचनाएँ करते थे।"[3] अवहट्ट को इन प्रदेशों में पिगल क्यों कहा जाता था और इस कथन का आधार क्या है, स्पष्ट नहीं किया गया है। प्राकृत पैंगलम् के टीका कार ने पिंगल और अवहट्ट का सदृशार्थक प्रयोग अवश्य किया है; पर वहाँ भी इस अर्थ साम्य का कोई आधार नहीं बताया गया। प्राकृत पैंगलम् में पिंगलाचार्य का नाम आया है। पिंगलाचार्य छन्दः शास्त्र के ज्ञाता थे और उन्हीं

---

१. डा० चटर्जी, औरिजिन एंड डेवलपमेंट आव् बेंगाली लैंग्वेज पृ० १०४

२. प्रथम...आद्य भाषा अवहट्ट भाषा...प्रा० पै० गाहा १ टीका

३. ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आव बेंगाली लैंग्वेज़ १९२६, पृ० ११४.

के नाम पर यह शास्त्र पिंगलशास्त्र कहा गया तो क्या इस भाषा के नाम में भी उनके उसी प्रभाव को ढूँढ़ा जा सकता है। भाषाविद् लोगों के मत से पिंगल पुरानी व्रज है। पुरानी व्रज नाम अवश्य भ्रमात्मक है। शौरसेनी अपभ्रंश के समान किसी अपभ्रंश से या उसी से व्रज भाषा विकसित हुई। पुरानी व्रज को यदि विकसित अपभ्रंश [शौरसेनी] कहें तो शायद अनुचित न होगा।

भिखारी दास ने काव्य निर्णय में षट्भाषाओं की चर्चा की है जिसमें एक नाग भाषा भी है।

व्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि
सहज पारसीहु मिलै षट्विधि कहत बखानि
काव्यनिर्णय १।१९.

इस नाग भाषा और पिंगल से सम्बन्ध विचारणीय है। पिंगलाचार्य नाग थे। प्राकृत को मिर्जा खाँ ने भी पातालबानी या नाग बानी कहा है। संस्कृत, प्राकृत और भाषा (व्रज) के बारे में वे कहते हैं कि पहली यानी 'सहंसकिर्त' में विभिन्न विज्ञान, कला आदि विषयों पर लिखी गई पुस्तकें मिलती हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह परलोक की भाषा है। इसे वे आकाशवाणी या देव वाणी कहते हैं। दूसरी 'पराकिर्त' है। इस भाषा का प्रयोग प्रायः राजाओं मंत्रियों की प्रशंसा के लिए होता है और इसे पाताललोक की भाषा कहते हैं। इसीलिए इसे पाताल बानी या नाग बानी कहा जाता है।[1] इस तरह मिर्जा खाँ के इस कथन और भिखारी दास के 'नाग भाषा' का कुछ अर्थ प्रतीत होता है। और लगता है कि ये दोनों लेखक पुरानी व्रज या पिंगल के लिए यह प्रयोग करते हैं। पिंगल का 'राजा मंत्रियों' की प्रशंसा के लिए प्रयोग होता ही था। इसे मिर्जा खाँ 'पराकिर्त' भी कहते हैं। 'पराकिर्त' शब्द से स्पष्ट है कि इस भाषा का तात्पर्य मिर्जा खाँ उस भाषा से समझते थे जो संस्कृत और भाखा (व्रज) के बीच की है, जिसका सम्मान सामन्तों के दरबारों में है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा को 'पराकिर्त' कहना अपभ्रंश की ओर संकेत करता है, खास तौर से परवर्ती अपभ्रंश की ओर, जो भी हो, यदि पिंगल का अर्थ पुरानी व्रज यानी विकसित शौरसेनी अपभ्रंश ही है तो इसे 'अवहट्ट' कहा जा सकता है। यदि यह राजस्थानो मिश्रित व्रज का नाम है तो यह बहुत अंशो तक अवहट्ट के लिए अभिधेय नहीं हो सकता।

१. ए ग्रामर अव् दि व्रज, विश्वभारती कलकत्ता, १९३५. पृ० ३४।

अवहट्ट और प्रान्तीय भाषाएँ

सन् १९१६ में, जब से पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान औ दोहा' नाम से अपभ्रंश की रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित कराया, पूर्वी प्रदेशों में जैसे एक चेतना सी उठी और भिन्न-भिन्न भाषा भाषियों ने इसे अपनी अपनी भाषाओं के पूर्व रूप सिद्ध करने के लिए प्रयत्न किया। एक ही चीज़ को शास्त्री,[1] चटर्जी[2] और विनयतोष भट्टाचार्य प्रभृत विद्वानों ने पुरानी बंगला कहा उसी को वाणीकान्त काकती[3] और बरुआ[4] ने पुरानी असमिया, प्रहराज[5] और प्रियारंजन[6] सेन ने इसे प्राचीन ओडिया कहा। डा० जयकान्त मिश्र[7] और शिवनन्दन ठाकुर[8] इसे पुरानी मैथिली समझते हैं। राहुल सांकृत्यायन[9] इसे पुरानी मगही मानने के पक्ष में हैं। इन लेखकों के मत और उनकी स्थापनाएँ भी बड़ी तर्क पूर्ण मालूम होती हैं और पाठकों के लिए सहसा यह निर्णय कर सकना दुस्तर होता है कि ये वस्तुतः किस भाषा की रचनाएँ हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि ये किसी खास स्थान की भाषा की रचनायें नहीं हैं ये वस्तुतः परवर्ती अपभ्रंश की रचनाएँ हैं जिनका रूप न्यूनाधिक रूप से सर्वत्र एक सा है और इसमें किसी भी सम्बन्धित भाषा-भाषी को अपनी भाषा के कुछ पुराने रूप ढूँढ़ सकना कठिन नहीं है। इस स्थिति की यदि सम्यक् मीमांसा की जाय तो कुछ कुछ ऐसी बातें स्पष्ट हो जाती हैं जो अवहट्ट के रूप निर्धारण में भी सहायक होती है। पहली बात तो यह कि परवर्ती अपभ्रंश की रचनायें ही आज की किसी भाषा के उद्गम और विकासक्रम को दिखाने का आधार हैं दूसरी ओर इनमें

---

१. बौद्ध गान औ दोहा की भूमिका, कलकत्ता सन् १९१६।
२. ओरिजिन एंड डेवलपमेंट अव् बंगाली लैंग्वेज, १९२६, कलकत्ता पृ० ३७८ से ३८१।
३. फारमेशन अव् आसमिज़ लैंग्वेज़ पृ० ८ से ९।
४. बरुआ अर्ली हिस्ट्री अव् कामरूप पृ० ३१४।
५. प्रोसेडिंग्स अव् आल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस ६ ठां भाग
६. ला कमेमोरेशन वालूम २ पृ० १९७।
७. हिस्ट्री आव् मैथिली लिटरेचर।
८. महाकवि विद्यापति पृ० २०८ से २१६।
९. गंगा पुरातत्वांक।

किसी एक ऐसे भाषा-रूप का हो सकना आवश्यक है जो इस विभिन्न भाषाओं के सम्बन्धित रूपों का आधेय है। इस तरह इन रचनाओं में एक ओर कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो आधुनिक आर्य भाषाओं के रूप-गठन के निर्णय में योग देती हैं कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप से मेल खाती हैं।

पश्चिमी प्रदेश में यह स्थिति थोड़ी भिन्न है ; परन्तु उसके मूल में भी यहीं प्रश्न उठता है। पुरानी जूनी गुजराती, प्राचीन राजस्थानी अथवा प्राचीन गुर्जर आदि नामों के मूल में भी यही प्रवृत्ति काम करती है। पश्चिमी प्रदेश परिनिष्ठित के उद्भव का प्रदेश है अतः यहाँ यह निर्णय करना भी कठिन होता है कि इस में कितना तत्व पश्चिम की अपभ्रंश विभाषाओं का है, कितना परिनिष्ठित अपभ्रंश का। वस्तुतः कभी तो अपभ्रंश भाषा का ऐसा रूप पाते हैं जिसमें गुजराती-राजस्थानी दोनों के तत्व प्रचुर मात्रा में मिलते हैं इसे हम पुरानी गुजराती अथवा पुरानी राजस्थानी नहीं कह सकते। इसलिए डा० तेसीतरी ने दसवीं ईस्वी शती से १२ वीं तक के काल को पिंगल अपभ्रंश कहना पसंद किया क्योंकि उस अवस्था तक राजस्थानी और गुजराती के निजी चिन्ह प्राधान्य नहीं रखते। बाद की चार सौ वर्षों की भाषा को भी वे पुरानी राजस्थानी कहना ही अच्छा समझते हैं, क्योंकि उसमें गुजराती और राजस्थानी का कोई विभेद कर सकना कठिन था। सन् १९१४ से सन् १९१६ के बीच समय-समय पर प्रकाशित उनके निबन्धो के स्पष्ट है कि वे अपभ्रंश और पिंगल अपभ्रंश के भेद को स्वीकार करते हैं और वे इस विचार के पक्ष में हैं कि उस समय एक व्यापक प्रदेश के अन्दर पिंगल अपभ्रंश का प्रभाव था।[1] परन्तु जब हम परवर्ती अपभ्रंश के काल को भी स्वार्थ बस पुरानी राजस्थानी का काल कहते हैं तो वस्तुतः सत्य को एक पहलू को ही देखने के दोषी बनते हैं। ढोला मारूरा दूहा के सम्पादको के विचार में भी यही दोष है।[2] गुजराती विद्वानों के पास अपभ्रंश की सामग्री सबसे अधिक है और उस पर उनका स्वत्व भी है, परन्तु एन० वी० दिवेतिया के कथन का सत्य स्वीकार्य होना चाहिए कि १२वीं शताब्दि से १५वीं तक के समय में एक विकृतभाषा जिसे हम कनिष्ठ अपभ्रंश कह सकते हैं, गुजरात और पूरे राजस्थान में प्रचलित थी।[3]

---

१. इंडियन एंटिक्वैरी, १९१४–१६ O.W.R.,

२. ढोला मारूरा दूहा पृ० १९९.

३. गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर भाग १ पृ० ४०।

यहाँ पर पूर्वी पश्चिमी दोनों प्रदेशों में शौरसेनी के व्यापक प्रभाव के कारण पूछे जा सकते हैं। पूर्वी अपभ्रंश के अत्यन्ताभाव का विषय भी विचारणीय है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

अवहट्ट और पुरानी हिन्दी

यहाँ पर अपभ्रंश का पुरानी हिन्दी नाम भी विचारणीय है। यह नाम सर्वप्रथम पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने सुझाया। कुछ लोग समझते हैं कि गुलेरी जी अपभ्रंश को ज्यों की त्यों पुरानी हिन्दी कहना चाहते हैं। वे साफ कहते हैं "पुरानी, अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिन्दी से।[१] विक्रम की सांतवी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही। और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियाँ घिस गई हैं, खिर गई हैं। एक ही विभक्ति 'ह' या 'आहं' कई काम देने लगी है। एक कारक को विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। क्रिया पदों में मार्जन हुआ। धन्वती अपुत्रा मौसी से तत्सम शब्द भी लिए।[२] इस प्रकार हम ने देखा कि गुलेरी जी केवल अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश का भेद ही नहीं करते उसके अन्तर के आधार भी ढूढते हैं। इस परवर्ती अपभ्रंश को वे पुरानी हिन्दी कहना चाहते हैं। इसलिए यह समझना निराधार है कि वे समूचे अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी में खींच लेना चाहते थे।

गुलेरी जी के इस मत पर दो दिशाओं में विचार हो सकता है। पहला व्यावहारिक दृष्टि से और दूसरा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से। पहली दिशा में कोई खास अड़चन नहीं आती। वे चाहते हैं कि जिस तरह कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक सी रही है। नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की भाषा ब्रजभाषा कहलाती थी वैसे अपभ्रश (परवर्ती) को पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं है।"[३] गुलेरी जी के इस कथन पर आपत्ति न रखते हुए भी कि यदि छापाखाना, प्रान्तीय अभिमान और मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह और नया प्रान्तीय उद्बोधन न होता तो हिन्दी अनायास ही देश भाषा बनी जा रही थी, हम पुरानी हिन्दी नाम को बहुत उचित नहीं मान सकते। व्यावहारिक दृष्टि से

---

१. पुरानी हिंदी पृ० ११.　　२. वही, पृ० ८

३. हीव, पृष्ठ ७

यह नाम कोई बुरा नहीं है, पर वर्तमान समय में भाषावार प्रान्तों के होने के कारण न तो इस प्रकार के नाम की कोई आवश्यकता रह गई है और न तो इस में कोई ऐसा तत्व है जो प्रान्तीयता के आग्रह को शान्त कर सके जो कभी-कभी हिन्दी को भी उतना बड़ा अधिकार देने में अवरोध पैदा करता है।

"भाषा विज्ञान की दृष्टि से पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी आदि नाम यदि भेद को और पीछे खीचकर रखे हुए हैं" तो पुरानी हिन्दी; जो खुद उस भेद का एक रूप है जो आधुनिक कार्य भाषाओं की दृष्टि से भारत के एक भू-भाग की भाषा है कहाँ तक सम्पूर्ण परवर्ती अपभ्रंश के लिए अभिधेय है ?

इस प्रसंग में राहुल जी के विचारों पर भी ध्यान देना अप्रासंगिक न होगा। राहुल जी भी इस नाम से सहमत मालूम होते हैं पर उनका विचार इस घेरे में सम्पूर्ण भारत को या सम्पूर्ण परवर्ती अपभ्रंश के प्रभाव क्षेत्र को लेने का नहीं है। "सूबा हिन्दुस्तान : हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलगू, ओड़िया, बंगला भाषाओं से घिरे प्रदेश की आठवीं शताब्दि की बाद की भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूप को प्राचीन मगही, मैथिली, ब्रजभाषा, आदि कहते हैं और आज कल के रूप को सार्वदेशिक और स्थानीय दो भागों में विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक रूप को खड़ीबोली और मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी आदि को आधुनिक स्थानीय भाषाएँ कहते।[१]

इस लम्बे उद्धहरण से स्पष्ट मालूम होता है कि राहुल जी पुरानी हिन्दी नाम केवल आज के हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश तक सीमित रखना चाहते हैं, परन्तु इसके विपरीत उन्होंने हिन्दी काव्य-धारा में जिस अपभ्रंश साहित्य का संकलन किया है वह सम्पूर्ण उत्तर भारत और कुछ अंशों में महाराष्ट्र प्रदेश को भी घेरने वाला है। इसी से शायद उन्होंने 'काव्य धारा' की अवतरणिका में कहा 'लेकिन यह अभिप्राय हरगिज नहीं है कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की साहित्यिक भाषा नहीं है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी भाषा भाषियों को।'[२]

इन तमाम तर्क-वितर्कों और वाद-विवाद को मिटा देने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि इस भाषा को परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट नाम देना

---

१. राहुल, गंगा पुरातत्वांक पृ० २२४।

२. हिन्दी काव्य धारा, अवतरणिका पृ० १२।

उपयुक्त है और यह 'अवहट्ट' नाम सम्पूर्ण उत्तरी भारत की संक्रान्तिकालीन भाषा का एक मात्र उपयुक्त नाम हो सकता है क्योंकि ऐसा करने से 'पुरानी' विशेषण युक्त भाषाओं का आपसी झगड़ा समाप्त हो जाता है दूसरी ओर इसे बिना किसी भेद-भाव के सब अपनी चीज मानने में भी संकोच नहीं कर सकते।

अवहट्ट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

साधारणतया इस्वी सन् की दशवीं शती से चौदहवीं तक के चार सौ वर्षों के लम्बे काल को विद्वानों ने हिन्दी का आदि काल कहा है, इस समय की प्राप्त रचनाएँ अपने गुण और प्रकार के कारण बड़े ही आकर्षक और प्रभावशाली साहित्य की सूचना देती हैं। इस साहित्य की विभिन्न शैलियाँ, उसकी सामग्री, और उसके तत्व हिन्दी के परवर्ती काल के साहित्य को नाना रूपों में प्रभावित करते रहते हैं। अपने इस साहित्यिक वैशिष्ट्य के कारण इस काल के साहित्य की श्रेष्ठता तो निःसंदिग्ध है ही, इस साहित्य की भाषा भी अपनी अलग महत्ता रखती है। साहित्य के क्षेत्र में सिद्धों, निर्गुणियों सन्तों एवं इतर प्रकार के लेखकों की रचनाओं के परस्पर विरोधी रूपों को देखते हुए सहसा उस काल का अध्येता बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है और उसे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इन विचित्र काव्यरूपों एवं काव्य-वस्तुओं के वास्तविक अध्ययन के लिए वह किन सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थितियों को समझे जिनके मूल में इनका वास्तविक समाधान मिल सकता है। उसी प्रकार इस काल की भाषा के विद्यार्थी के सम्मुख भी कुछ ऐसे टेढ़े प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनके उत्तर के लिए उस पूरे काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझना अनिवार्य हो जाता है।

अवहट्ट भाषा के मूल में शौरसेनी अपभ्रंश है इसे स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठता है कि वह पूर्वी प्रदेशों में भी साहित्य-माध्यम क्यों स्वीकृत हुआ जब कि उस प्रदेश में मागधी अपभ्रंश को यह स्थान मिलना चाहिए था। इसी तरह भाषा सम्बन्धी बहुत से प्रश्न जैसे अवहट्ट और अन्य देशी भाषाओं का सम्बन्ध, तत्सम शब्दों की भरमार का कारण, फारसी शब्दों का आगमन, गद्य का प्रचार और उसका रूप आदि, उत्तर की अपेक्षा रखते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक हम इस काल की सामाजिक स्थिति के आलोक में इन्हें समझने की कोशिश न करें।

आदिकाल की जो भी सामग्री प्राप्त है वह मध्यप्रदेश की नहीं है इस पर

कई विद्वानों ने विचार किया है और उसके कारण भी बताये हैं। वस्तु स्थिति तो यह है कि गुजरात और राजपूताना को छोड़कर समूचे उत्तर भारत में ऐसी सामग्री का अत्यन्ताभाव है जिसे हम भाषा विषयक अध्ययन का आधार बना सकें। काव्यरूपों तथा तत्कालीन विचारधारा के अध्ययन के लिए तब भी इन्हें बहुत अंशों तक उपयोग की वस्तु समझ सकते हैं किन्तु भाषा के लिए तो ये त्याज्य सी हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल की सामग्रियों के परिरक्षण के तीन साधन बताए हैं। १. राज्याश्रय पाकर २. सुसंगठित धर्म सम्प्रदाय का आश्रय पाकर मठों विहारों आदि के पुस्तकालयों में संरक्षित होकर ३. जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर।[१] भाषा को ध्यान में रखते हुये जनता द्वारा रक्षित पुस्तकें पूर्णतया व्यर्थ हैं क्योंकि उनके रूप रासों या आल्ह काव्य से अधिक शुद्ध नहीं मिल सकते। धर्म-सम्प्रदायों ने भी प्रायः रक्षा का कार्य किया, परन्तु इनमें कभी कभी भाषा को स्वाभाविक रूप में न रखकर उसे अधिक आर्ष और पुरानी बनाने का लोभ भी दिखाई पड़ता है और इसमें जैन लेखकों की रचनायें बहुत अंशों में शुद्धता का आधार होते हुए भी, गृहीत होती हैं। सबसे प्रबल संरक्षण के साधन राजवाड़े रहे हैं जिनकी स्थिति के साथ साथ ही इस प्रकार के रक्षण की भी स्थिति समझी जा सकती है।

इस काल की सबसे प्रधान घटना मुसलमानों का आक्रमण है। भाषा-शास्त्रियों का एक दल यह मानता है कि भाषा सामाजिक या राजनैतिक परिवर्तनों के साथ ही परिवर्तित नहीं होती क्योंकि यह समाज के किसी खास वर्ग की वस्तु न होकर पूरे समाज की वस्तु होती है और इसका निर्माण समाज की सैकेड़ों पीढ़ियों के योगदान से सम्पन्न होता है। परन्तु राजनैतिक घटनायें समाज में जो संघर्ष की स्थिति पैदा करती हैं उससे कई प्रकार के परिवर्तन जो शान्ति काल में अपनी स्वाभाविक गति से धारा के समतल पर धीरे धीरे होते रहते हैं, वे आलोड़न के कारण विक्षुब्ध होकर बड़ी तीव्रता से आरम्भ होते हैं और वे ऊपरी स्तर पर दिखाई पड़ने लगते हैं। राजवाड़ों के टूटने, नई व्ययस्था के आरोपण तथा जनता के बिखरने से साहित्यिक भाषा के अन्दर कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। शब्द-समूह का विकास तो अपरिहार्य घटना होती है इसके अतिरिक्त देशी प्रयोग तथा विभिन्न विभाषाओं के बहुत से तत्व भी गृहीत हो जाते हैं। इसका बहुत बड़ा प्रभाव भाषा की गठन पर न पड़ता हो, परन्तु भाषा

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना सन् १९५२, पृष्ठ १९।

की बहुत सी समस्याओं के मूल में इन घटनाओं का हाथ होता है और कभी कभी उनके सुलझाव में भी ये योग देती हैं। चटर्जी के इस कथन में विश्वास न करने का कोई कारण नहीं कि यदि मुसलमानों का आक्रमण न हुआ होता तो आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास क्रम में कम से कम एक शताब्दी का अन्तर तो पड़ता ही।[1]

मुसलमानों का आक्रमण पश्चिमी प्रदेशों पर होता अवश्य रहा किन्तु गुजरात, राजस्थान तक के प्रदेश प्रायः इस काल में अभेद्य रहे। हमले हुए मुसलमानों को जीत भी मिली, परन्तु सामना कुछ ऐसा समानता का रहा कि प्रभाव नहीं पड़ सका। मध्यदेश में कुछ काल के लिए अराजकता अवश्य दिखाई पड़ी परन्तु गाहड़वारों के प्रभुत्व के पश्चात् बहुत कुछ शान्ति सी रही। इस प्रदेश में बाहरी आक्रमणों की अपेक्षा आन्तरिक युद्धों का प्राधान्य था और अपभ्रंश अपने मूल प्रदेश की सामन्ती संस्कृति की अभिव्यक्ति का एकमात्र सबल माध्यम था जिसमें वीरता और शृङ्गार के बड़े ही अछूते और सजीव भावों का आकलन हो सका।

मुसलमानों के आक्रमण के कारण और भीतरी शत्रुओं से सदैव युद्धरत रहने के कारण इस जाति के साहित्य में वीरता का अद्भुत वर्णन मिलता है। इस काल का अपभ्रंश का परवर्ती रूप रूढ़ हो चुका था और जन अपभ्रंश या देश्य अपभ्रंश से मिला हुआ एक रूप प्रबल होने लगा था। इस काव्य भाषा को लोगों ने पिंगल भी कहा है जो काफी प्रचलित थी। इस भाषा में केवल चारण ही नहीं राजा और सामन्त भी कविताएँ करना गौरव की वस्तु समझते थे।

राजपूत राजाओं का ब्राह्मण धर्म से सीधा लगाव था और बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया का जो जोश हर्ष के बाद से आरम्भ हुआ उसने संस्कृत भाषा, पुराण आदि धर्म ग्रंथों के आधार पर लिखे गये काव्यों और अतीत युग के यज्ञ-विधान को बड़ा प्रेरित किया। फलस्वरूप इस पुनर्जागरण के कारण भाषा में तत्सम शब्दों का प्राधान्य बढ़ने लगा। विद्वानों को बड़ा आश्चर्य सा होता है कि दसवीं शताब्दी से चौदहवीं तक के इस साहित्य में सहसा इतना बड़ा तत्सम-प्रेम कहाँ से पैदा हो गया। मुसलमानों के आक्रमण की प्रतिक्रिया से जनता अपनी संस्कृति की ओर झुकी और उसमें यह प्रवृत्ति बढ़ी, एक कारण हो सकता है यद्यपि बहुत प्रधान कारण नहीं है। इन कारणों के मूल में भक्ति आन्दोलन, पौराणिक

---

१. इंडो आर्यन एंड हिन्दी, पृ० १८।

चरित्रों को आधार पर काव्य प्रणयन, ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान आदि बहुत सी प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती हैं।

इस काल भी भाषा में फ़ारसी शब्दों की भी बहुलता है। इसका कारण निश्चित रूप से मुसलमानों का सम्पर्क ही है। ये शब्द हमारी भाषा में बहुत कुछ भाषा के रूप के कारण परिवर्तित होकर आए।

ऊपर पश्चिमी क्षेत्रों की राजनीतिक स्थिति के प्रकाश में शौरसेनी अपभ्रंश के विकास की बात कही गई। हमें इसके साथ ही बनारस के पूर्वी प्रदेशों की राजनीतिक स्थिति पर विचार करना है। महमूद के अन्तिम आक्रमणों से बनारस का कैसे पतन हुआ यह तो बाद की वस्तु है। जिस समय राष्ट्रकूट दक्षिण में अपने साम्राज्य की नीव रख रहे थे करीब उसी ८वीं शताब्दी के आस पास बंगाल में पालवशी राजाओं ने अपने राज्य की नींव रखी। पालवंशी राजाओं के पहले बंगाल अराजकता, राजनैतिक कुहासा और छिन्न भिन्न अवस्था में पड़ा हुआ था। इन बौद्ध राजाओं के राज्य काल में बंगाल में संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषा को बल मिलना अनिवार्य था। किन्तु पालवंशी राजाओं के राज्यकाल में कला संस्कृति और दर्शन की पर्याप्त उन्नति हुई। उनके बनवाए हुए विहार बौद्ध विद्याओं के केन्द्र बने रहे। पालवंशी शासनकाल में ही विद्वानों को राय है कि सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों का साहित्य बना। इसी समय नवोदित शैव सम्प्रदाय के योगियों और नाथों का भी प्रभाव बढ़ता रहा। सिद्ध साहित्य की अमूल्य सामग्री का पालवंशी राजाओं के काल में निर्मित होना असंभव नहीं है, परन्तु हमारे पास 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से जो साहित्य मिलता है उसे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर पालवंशीय शासन काल तक खींच ले जाना मुश्किल है। दोहा कोश की भाषा को किसी प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी के आस पास मान भी लें किन्तु गानों की भाषा को तेरहवीं चौदहवीं के पहले मानने का कोई भाषा वैज्ञानिक कारण नहीं मिलता। वस्तुतः ये गान अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश काल की रचनाएँ हैं जिनमें पूर्वी प्रभाव की स्पष्ट है। गानों की भाषा को प्रसिद्ध विद्वान् राखालदास बैनर्जी चौदहवीं शताब्दी के पहले का मानने के लिए तैयार नहीं है।[1] इसके बारे में हम अगले अध्याय में विचार करेंगे यहाँ इतना ही कहना है कि पालवंशीय शासन काल का मागधी अपभ्रंश का कोई खास साहित्य प्राप्त नहीं होता।

---

१. राखालदास बैनर्जी का निबन्ध 'श्री कृष्ण कीर्तन' की भूमिका।

'विहार मिथिला और उत्कल में जब कि अपनी किसी खास भाषा का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था, सेनवंशीय शासन काल में बंगाल के लोगों ने अपनी बोलियों का विकास किया'[1] ये बोलियाँ मागधी अपभ्रंश की ही किसी विभाषा से सम्बद्ध हो सकती हैं ऐसा सोचा जा सकता है, परन्तु इतना सत्य है कि 'बंगाल के लोगों ने अपनी बोलियों का विकास किया' कह कर विद्वान् लेखक ने यह संकेत तो कर ही दिया है कि उसके सामने इस भाषा के विकास क्रम को दिखाने के लिए मागधी सम्बन्धी कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसी से चर्यागीत को ही बोलियों के विकास का आधार मानना पड़ता है।

इसका बहुत कुछ राजनैतिक कारण ही है। ११९७ में शायद पूर्वी प्रदेशों के लिए सबसे बड़ा अनिष्टकारी वर्ष था जब वखत्यार का बेटा मुहम्मद खिलजी विहार को चीरता चला गया। इसका वर्णन सुलतान नासिरुद्दीन महमूद के प्रधान काज़ी मिनहाज़-ए-सिराज ने अपने इतिहास ग्रंथ तबकात-ए-नासिरी में बड़े विस्तार से किया है। हत्या और अन्य घटनाओं ने पूरे प्रान्त से शिक्षा और संस्कृति का नाश कर दिया। विद्वानों की या तो हत्या कर दी गई या तो वे भाग कर नैपाल की ओर चले गए। वे अपने साथ बहुत से हस्तलिखित ग्रंथों की पांडुलिपियाँ भी लेते गए। इस तरह एक गौरवशाली साहित्य परम्परा का अन्त हो गया। मगध जो पूर्वी भारत का वास्तविक (काक-पिट) या रणस्थल कहा गया है, अनवरत तुर्क पठान और मुगलों के युद्धों का केन्द्र बना रहा[2] बंगाल भी इस हमले से नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

मुसलमानी आक्रमण के परिणाम स्वरूप पूर्वी प्रान्तों में एक ओज और वीरता की लहर आई। मुसलमान आक्रमणकारी सम्पूर्ण उत्तर भारत के शत्रु थे। भारत में उनके सबसे बड़े शत्रु राजपूत राजे थे। वस्तुतः धर्मोन्माद में उठी मुसलमानी तलवार का पानी कहीं सूखा तो राजस्थान की मरुभूमि में। पश्चिमी प्रान्तों में इन मुसलमानों के खिलाफ जो जोश उमड़ता था उसका प्रतिबिम्ब कहीं दिखाई पड़ा तो शौरसेनी अपभ्रंश में। वीरों के तलवारों की झनझनाहट, उनके वीरतापूर्ण यश के लिए गाई कविताओं की गूँज, शौरसेनी अपभ्रंश के माध्यम से देश भर में मुखरित हो रही थी। गुजरात से लेकर बंगाल तक शौरसेनी अपभ्रंश के प्रसार में राजपूतों के चरित्र, उनकी वीरता

---

१. ओ. वै. लै. पृ० ८१

२. चटर्जी द्वारा उद्धृत बै. लै. पृ० १०१

और उनके प्रभाव का तो जोर था ही साथ ही देश के बाहर शत्रु के प्रति एक घृणा की भावना भी थी जो अपने अन्दर वीरता का संचार करती थी। दूसरे उस काल की कोई भी ऐसी भाषा नहीं थी जो समर्थ काव्य रचना का उचित माध्यम बन सके।[१]" शौरसेनी अपभ्रंश से मिलती जुलती एक भाषा नवीं शताब्दि से लेकर बारहवीं शताब्दि तक उत्तर भारत के राजपूत राजाओं की राज-सभा में प्रचलित थी और राज-सभा के भाटों ने उसे उन्नत रूप दिया। उन राजाओं के प्रति श्रद्धा और सम्मान दिखाने के लिए गुजरात तथा पश्चिम पंजाब से लेकर बंगाल तक सारे उत्तर भारत में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हो गया और वह राष्ट्रभाषा हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि वह शिष्टभाषा थी और कविता के लिए अति उपयुक्त समझी जाती थी। भारत के अन्यान्य प्रान्तों में भाटों को यह भाषा सीखनी पड़ती थी और इसी में काव्य रचना करनी पड़ती थी।[१]

वस्तुतः शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव इतना व्यापक था कि समाज का प्रत्येक शिष्ट व्यक्ति, कवि, प्रचारक, सिद्ध या साधु इसी भाषा के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करता था। बंगाल के सिद्धों की रचनाएँ, इसी भाषा में हुई। इसी में विद्यापति की कीर्तिलता लिखी गई।

मुसलमानों के आक्रमण से एक ओर मागधी अपभ्रंश को क्षति हुई दूसरी ओर शौरसेनी को बल मिला। बौद्धकाल में यों ही अर्धमागधी के सामने मागधी का प्रचार न हो सका और वह नाटक तक में नीच पात्रों की ही भाषा रहने का गौरव पा सकी। शायद बाद में कुछ विकसित हो पाती, किन्तु मुसलमानी आक्रमण ने उससे यह अवसर भी छीन लिया और इस प्रदेश में राष्ट्रभाषा के रूप में शौरसेनी ही स्वीकार कर ली गई।

मिथिला और बंगाल में कुछ विकास की सम्भावनाएँ थी, परन्तु वहाँ भी संस्कृत को ही राज्याश्रय मिला। मुसलमानी आक्रमण से मिथिला बची रही पर वहाँ हिन्दू संरक्षण ने संस्कृत के विकास में अधिक प्रयत्न किया। 'कुलीनतावाद' के समर्थक सेन राजाओं के राजत्व में धोयी, जयदेव ऐसे संस्कृत कवियों को तो आश्रय मिला, पर अपभ्रंश के उत्थान की कोई संभावना वहाँ नहीं दिखाई पड़ी।

इस प्रकार ऊपर कथित ऐतिहासिक परिस्थितियों के संक्रान्ति काल

---

१. ओरिजिन एंड डेवेलपमेण्ट आव् बंगाली लैंग्वेज़ पृ० ११३।

में यदि भाषा की स्थिति देखी जाय तो चार बातें स्पष्ट रूप से कही जा सकती हैं।

१. शौरसेनी अपभ्रंश राजनीतिक और भाषा वैज्ञानिक कारणों से राष्ट्रभाषा का रूप ले रहा था। उसी का परवर्ती रूप ईसा की ग्यारहवीं शती से १४वीं तक उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा बना रहा। यह अवहट्ट थोड़े प्रान्तगत भेदों के अलावा सर्वत्र एक सा ही है।

२. इस काल में अपभ्रंश की विभिन्न बोलियाँ विकसित होने लगीं और उनमें से बहुत अवहट्ट के अन्त होते होते यानी १४०० के आस पास समर्थ भाषा के रूप में साहित्य का माध्यम स्वीकार कर ली गई।

३. इस काल की भाषाओं में मुसलमानी आक्रमण के फलस्वरूप फारसी के शब्दों की भरमार दिखाई पड़ती है।

४. हिन्दुत्व के पुनर्जागरण के कारण संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य मिलता है।

अवहट्ट का काल निर्णय

अपभ्रंश और अवहट्ट के बीच कोई निश्चित सीमा-रेखा खीच सकना मुश्किल है। गुलेरी जी कहते हैं कि अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन किन्तु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के बारे में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती।[१] विद्वानों का विचार है कि हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा, वह मर चुकी थी।[२] तेसीतरी ने कहा कि वह भाषा जीवित नहीं थी। परन्तु तेसीतरी ने इसके लिए कोई कारण नहीं दिया। इस दिशा में श्री दिवेतिया ने भी विचार किया है और उन्होंने कुछ बड़े ही मनोरंजक कारण ढूंढे हैं। हो सकता है कि उनके कारण बड़े ठोस न हों, परन्तु उनसे कुछ प्रकाश तो पड़ता ही है। दिवेतिया के तीन कारण इस प्रकार हैं।[३]

१. हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अन्तःसाक्ष्य पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश प्रचलित भाषा नहीं थी। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के द्वितीय चरण में १७४ वें सूत्र पर जो वार्तिक लिखा है वह उस प्रकार है।

भाषाशब्दाश्च। आहित्थ। लल्लक्क। विड्डिर......इत्यादयोः महाराष्ट्र विदर्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽवगन्तव्याः। क्रिया शब्दाश्च अवसासइ। फुंफुल्लइ। उफ्फालेइ इत्यादयः। अतएव कृष्टघृष्ट वाक्यविद्वस वाचस्पति विष्टरश्रवस् प्रचेतस् प्रोक्तप्रोतादीनां क्विवादिप्रत्ययान्तानां चाग्निचित् सोमस्सुग्लसुम्लेत्यादीनां पूर्वैः कविभिरप्रयुक्तानां प्रतीतवैषम्यपरः प्रयोगो न कर्तव्यः शब्दान्तरेरेव तु तदर्थोभिधेयः। यथा कृष्टः कुशल। वाचस्पतिगुरु। विष्टरश्रवा हरिरित्यादि।

भाषा-शब्द से यहाँ हेमचन्द्र का तात्पर्य प्राकृत शब्द नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं से है। शब्द 'प्रतीतिवैषम्य परः' इस

---

१. पुरानी हिन्दी, पृ० ११।

२. तेसीतरी, इंडियन एटिक्वेरी १९१४ O. W. R. (Introductory)

३. एन० बी० दिवेतिया, गुजराती लैंग्वेज़ एंड लिटरेचर पृ० २—५।

बात का संकेत करता है कि हेमचन्द्र के काल में प्राकृतें जनभाषा नहीं रह गई थी।

२. दूसरे प्रयाग के उन्होंने हेमचन्द्र के व्याकरण के ८-१-२३१ सूत्र की टीका से उद्धरण दिया है।

प्राय इत्येव। कई। रिऊ। एतेन प्रकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोर्थस्मिकृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः।

यदि कहीं सूत्रों में आपस में ही मतान्तर मालूम हो और कोई उचित मार्ग न प्रतीत हो तो 'श्रुतिसुख' को आधार मानना चाहिए। यह प्रमाण पहले का पूरक ही है क्योंकि श्रुतिसुख की आवश्यकता तो वहीं होगी जहाँ 'पूर्वकवियों' के उदाहरणों से काम न चल सकेगा। अगर प्राकृतें वास्तव में जनभाषा होतीं तो हेमचन्द्र आसानी से 'लोक प्रयोग' दे सकते थे।

पूर्वकविप्रयोग, प्रतीतवैषम्य और श्रुतिसुख का प्रयोग निःसन्देह प्राकृत भाषाओं के वर्णनों में आया है अतः उसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता, परन्तु हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती हैं। इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ ही साथ अपभ्रंश के लिए भी मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहीं भी अपभ्रंश को 'भाषा' नहीं कहा है और न तो उसे लोक भाषा ही कहा है अतः 'भाषा शब्द' और 'लोकतो अवगन्तव्याः' आदि का अर्थ दूसरा ही है। हेमचन्द्र तो अपभ्रंश का या तो अपभ्रंश या शौरसेनी, मागधी, आदि नामों से पुकारते रहे हैं।

तीसरे प्रमाण के लिए दिवेतिया ने प्राकृत द्वयाश्रय काव्य (कुमारपाल-चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि यह ग्रंथ प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरणों के लिए लिखा गया है इसमें अपभ्रंश भाग के लिए भी उदाहरण मिलते हैं। यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोक भाषा थी तो उसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जनप्रचलित भाषा नहीं थी इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। फिर भी हेमचन्द्र के काल तक अपभ्रंश लोक भाषा नहीं थी इतना तो प्रमाणित होता ही है। हेमचन्द्र ने स्वयं अपने काव्यानुशासन में दो प्रकार के

अपभ्रंशों की चर्चा की है। पहली शिष्ट भाषा जो साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी और दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश भाषा जो जनता के इस्तेमाल की चलती फिरती भाषा थी। परिनिष्ठित अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत की भाँति शिष्ट जन की भाषा हो गई थी और भाषा शास्त्र की दृष्टि से ग्राम्य अपभ्रंश काफी अग्रसर हो रही थी। इस तरह के अपभ्रंश के रूप हमें सन्देश रासक, उक्ति व्यक्ति और प्राकृत पैंगलम् में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा जिसमें उसने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए पूरे के पूरे दोहे उद्धृत किए, इस के आधार पर लोगों की धारणा है कि हेमचन्द्र के समय तक अपभ्रंश लोकभाषा नहीं रह गई थी। यद्यपि यह कोई बहुत अच्छा तर्क नहीं है, हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण पंडितों के लिए लिखा, इसलिए 'भाषा' के व्याकरण के लिए उन्हें पूरा छन्द उद्धृत करना पड़ा। फिर भी हेमचन्द्र के काल तक अपभ्रंश जनभाषा नहीं थी यह तो इसी से मालूम होता है हेमचन्द्र ने 'देशी नाम माला' का निर्माण आवश्यक समझा। ये शब्द शिष्ट अपभ्रंश में नहीं मिलते, निश्चय ही ये ग्राम्य अपभ्रंशों में प्रचलित रहे होंगे।

'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में लेखक ने तत्कालीन देश भाषा यानी अपभ्रंश के रूपों को संस्कृत व्याकरण के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। उक्ति व्यक्ति की भाषा जिस प्रकार के अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करती है वह निःसन्देह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से कोसों दूर है। इसमें अपभ्रंश के विकसित रूप तो मिलते ही हैं पुरानी अवधी के स्वरूपों का प्रयोग भी अधिकता से हुआ है और इस आधार पर डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इसे 'पुरानी कोसली' नाम देने के पक्ष में है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण बारहवीं शताब्दि की रचना है। दामोदर पंडित ने इस ग्रंथ में काशी के आस पास प्रचलित तत्कालीन भाषा को ही अपभ्रंश नाम दिया है। लेखक ने 'उक्ति व्यक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए पहली कारिका की टीका में लिखा है :

उक्तावपभ्रंशभाषिते व्यक्तीकृतं संस्कृतं नत्वा तदेव करिष्यामः इत्यर्थः × × × अथवा नाना प्रकारा प्रतिदेशं विभिन्ना येयमपभ्रंशवाग्रचना पामराणां भाषित भेदाभेदास्तद्व्वहिष्कृतं ततोऽन्यादृशम्। तद्धि भूर्खप्रलपितं प्रतिदेशं नाना।

उक्ति व्यक्ति १।१९-२१

ग्रंथकार ने इस देशभाषा का कोई विशिष्ट नाम न देकर अपभ्रंश नाम दिया है, परन्तु इस अपभ्रंश शब्द का उसके मन में वही अर्थ नहीं है जो हेमचन्द्र के अपभ्रंश का यानी परिनिष्ठित अपभ्रंश का है। 'उक्ति' का अर्थ है लोकोक्ति

यानी लोक में प्रचलित भाषा पद्धति, उसकी व्यक्ति यानी विवेचना, स्पष्टीकरण जो इस ग्रंथ में किया गया है। पामर लोगों के वाग्व्यवहार में आने वाली यह भाषा जिसके विभिन्न भेद हैं, संस्कृत व्याकरण पद्धति से स्पष्ट की गई है। 'उक्ति व्यक्ति' के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि ईसा की बारहवीं शताब्दि में मध्यदेश में परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न भाषा लोक व्यवहार में आती थी जो एक ओर अपभ्रंश से निकट थी जिसे दामोदर पंडित 'अपभ्रंश' ही कहना चाहते हैं किन्तु उसके स्वरूप का भाषा वैज्ञानिक विवेचन करने पर डा० चाटुर्ज्या उसे पुरानी कोशली कहना उचित समझते हैं। उक्ति व्यक्ति की भाषा में परवर्ती अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है, यह निर्विवाद है।

इस प्रकार हमने देखा कि १२वीं तेरहवीं शताब्दि के आस-पास अवहट्ट के ग्रंथ मिलने लगते हैं जिनमें परवर्ती अपभ्रंश की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रभाव भी भाषा पर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगते हैं। प्राकृत पैंगलम् की रचनाओं में इस प्रकार के उदाहरणों के बहुत प्रयोग मिल जाते हैं। यह सत्य है कि प्राकृत पैंगलम् की रचना में १४वीं शताब्दि के आस-पास का भी बहुत साहित्य संकलित किया गया है, फिर भी उसका कुछ भाग निःसन्देह बारहवीं शती के पहले निर्मित हो चुका था। प्राकृत पैंगलम् की भाषा से साफ मालूम हो जाता है कि यह अपभ्रंश का परवर्ती रूप है। इसकी रचनाएं ११वीं से १३वीं तक के बीच की हैं, परन्तु इसमें कुछ ऐसे भी छंदों के उदाहरण मिलेंगे जिनकी भाषा १४वीं शती की है।[1] वस्तुतः प्राकृत पैंगलम् का रचना देश ही इस तथ्य की सूचना देता है कि मध्यदेश की मूल भाषा शौरसेनी अपभ्रंश स्वयं भाषा सिद्धांतों के अनुसार विकसित होती जा रही थी और इसने अवहट्ट का मूल ढांचा तैयार कर दिया था जो करीब ११वीं शती के आस-पास सर्व सामान्य रूप से, देश के राजनीतिक तथा अन्य कारणों से, मध्यदेशीय राजवाड़ों के गौरव और सम्मान के रूप में समस्त आर्य भारत द्वारा गृहीत होता जा रहा था। इसी समय अपभ्रंश कालीन विभाषाएं भी विकसित हो रहीं थी और वे आधुनिक आर्यभाषाओं के उदय की सूचना दे रही थी। इन जनभाषाओं के सम्पर्क से अवहट्ट में जनसुलभ शब्दों की भरमार तो हुई ही जनभाषा की कई प्रमुख प्रवृत्तियों का भी दर्शन होने लगा। प्राकृत पैंगलम् में ही हमें ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे जिसमें पश्चिमी देशों की जनभाषाओं के प्रभाव परिलक्षित होंगे। इस तरह हमने देखा कि यद्यपि अपभ्रंश और अवहट्ट

---

१. डा० तेसीतरी, इंडियन एंटिक्वेरी जिल्द १४, १९१४ फरवरी

के बीच कोई निश्चित काल विभाजक रेखा खींच सकना असंभव है, पर मोटे रूप से अवहट्ट में पाई जाने वाली विशेषताओं की उपलब्धि करीब-करीब ११वीं शताब्दि में होने लगी। इन तथ्यों के आधार पर हम अवहट्ट का रचना काल १२वीं शती के आरम्भ से पीछे नहीं खींच सकते यद्यपि इसका वास्तविक आरम्भ तो करीब दो सौ वर्ष पहले ही मानना चाहिए, यद्यपि उस काल की रचनाएं इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दे सकती।

अवहट्ट काल के अन्त के बारे में हम निश्चिन्त हैं। अवहट्ट का अन्त करीब-करीब १४वीं शती के अन्त से सम्बद्ध सा माना जा सकता है। यह सत्य है कि १४वीं शती के बाद भी इस काल को खीचा जा सकता हैं, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं। विद्यापति के काल तक निःसन्देह जनभाषाओं का उदय हो चला था। एक ओर वे अवहट्ट में काव्य रचना करते हैं दूसरी ओर उनकी प्रतिमा का "प्रौढ़चन्द" पदावली में चमकता है। अतः इसके नीचे तो इस काल को खींचना मुश्किल है। ठीक वास्तविक समय क्या है इसके लिए विचार करने की सामग्री प्राप्त है। जनभाषाओं के प्रौढ़रूप हमें १४वीं शती के अन्तिम चरण तक मिलने लगे।

१. तेसीतोरी के मतानुसार अवहट्ट का रचनाकाल मुग्धबोध औक्तिक के रचनाकाल के बाद नहीं खींचा जा सकता।[१] मुग्धबोध औक्तिक का रचना काल १४५० विक्रम सम्वत या १३६४ ईस्वी सन् निश्चित है। इस ग्रंथ का सबसे पहला परिचय डा० यच० यच० ध्रुव के १० सितम्बर १८८६ के निबन्ध से मिला जो उन्होंने "नियो वर्नाक्यूलर आव् वेस्टर्न इंडिया' शीर्षक से लिखा था और जिसे उन्होंने उक्त सन् में क्रिश्चियाना में विद्वानों की एक सभा में पढ़ा था। मुग्धबोध औक्तिक संस्कृत में लिखा हुआ व्याकरण ग्रंथ है जो नए छात्रों की दृष्टि से लिखा गया है।[२] इस ग्रंथ पर जार्ज ग्रियर्सन ने एक लम्बा विचार अपने लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया के जिल्द ६ में दिया है।[3] और इसकी टीका को उन्होंने गुजराती भाषा का सबसे पहले नमूना कहा। तेसीतरी ने इस गुजराती न कह कर पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का नमूना माना क्योंकि उनकी राय से तब तक

---

१. टेसीटोरी इंडियन एन्टिक्वेरी भाग १४

२. संक्षेप्यदौक्तिकं वस्ये बालानां हित बुद्धये। (मु० बो० औ०)

३. जिल्द ६ भाग २ पृ० ३५३

मारवाड़ी गुजराती और राजस्थानी अलग भाषा के रूप में नहीं हुई थी।[1] जो कुछ भी इतना सत्य है कि पश्चिमी भारत में अवहट्ट का रचना काल इस ग्रंथ के रचना काल के नीचे नहीं खींचा जा सकता।

२. डा० चटर्जी के अनुसार पूरब में अर्थात् बंगला में टीका सर्वस्व को आधुनिक भाषाओं के उदय काल पर प्रकाश डालने वाली पहली सामग्री के रूप में मानना चाहिए। चटर्जी का विचार है कि ११५६ ईस्वी की इस टीका सर्वस्व नामक पुस्तक में ३०० ऐसे शब्दों का उल्लेख है जिनका अध्ययन बंगला भाषा के ध्वनि विचार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है।[2] यह टीका सर्वस्व पंडित सर्वानन्द नामक किसी बंगली सज्जन द्वारा अमरकोश पर लिखी गई भाषा टीका है। इस टीका से भाषा की गठन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पांडुलिपि की प्राचीनता भी सन्दिग्ध ही है। अतः यह ग्रंथ इस काल निर्णय के लिए उपादेय नहीं है। पूर्वी प्रान्तों में परवर्ती अपभ्रंश का काल चंडीदास के कृष्णकीर्तन से नीचे नहीं खीचा जा सकता। इसकी पांडुलिपि भी पुरानी है। पहले चटर्जी ने इसे आध्यमिक काल के उदय का संकेत चिन्ह कहा है और इसके की अवस्था को 'प्रोटो बंगाली' 'और बंगाली निर्माण की अवस्था में' इन दो नामों से अभिहित करते हैं।[3] इन दो अवस्थाओं को यदि दूसरी शब्दावली में कहें तो 'पुरानी बंगला' कह सकते हैं और इसका आधार 'बौद्ध गान और दोहा' माना जाता है जिसके बारे में पहले ही कहा जा चुका है।

मगध में विद्यापति की कीर्तिलता को अवहट्ट की अंतिम रचना मान लें तो स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वी प्रदेशों में भी अवहट्ट का समय समाप्त हो गया था।

अवहट्ट काल के अन्त के बारे में कुछेक पुस्तकों का आधार लेकर जो विचार दिये गए हैं, उनकी कोई खास आवश्यकता नहीं थी. क्योंकि परवर्ती अपभ्रंश की रचना १७वीं शताब्दि तक होती रही, इसलिए यह कहना कि उसका अन्त १४वीं शताब्दि में हो गया, कोई मतलब नहीं रखता। मेरा तात्पर्य केवल उतना ही है कि १४वीं के आस पास परवर्ती अपभ्रंश भी लोक भाषा के स्थान से हट गया और उसका स्थान विभिन्न जन पदीय अपभ्रंशों से विकसित बोलियों ने ले लिया।

---

१. इंडियन ऐन्टिक्वेरी भाग १४

२. चैटर्जी बैं० लैंग्वेज पृ० १०६-११ ३. वही पृ० १२६

इस प्रकार ईसा की ग्यारहवीं शताब्दि से ईसा की चौदहवीं तक के काल को हम अवहट्ट का काल मानते हैं। इससे यह न समझना चहिए कि हम आधुनिक आर्य भाषाओं के काल को पीछे खींचते हैं। सत्य तो यह है कि अवहट्ट जिन दिनों साहित्य भाषा के रूप में इतने बड़े भूभाग में प्रचलित था, उस समय जन भाषाएँ तेजी से विकसित हो रही थीं और भाषाविद् उनके इस विकास का समय ईसा की दशवीं शताब्दि से स्वीकार करते हैं। १४वीं तक में स्वयं सबल भाषाओं के रूप में सामने आ गई और १४वीं के बाद भी परवर्ती अपभ्रंश में रचनाएँ होती रहीं, परन्तु इन भाषाओं के विकास के बाद उसका वैसा प्रचार और जन सम्पर्क नहीं रह गया और प्रादेशिक भाषाएँ, इतनी समर्थ हो गई कि चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दी तक चंडीदास, विद्यापति, जायसी, मीरा और नरसी मेहता ऐसे प्रौढ़ कवि दिखाई पड़ने लगे।

अवहट्ठ और 'देसिल वअन'

सक्कय वाणी बुहअन भावइ
पाउंअ रस को मम्म न पावइ
देसिलवअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओं अवहट्ठा

कीर्तिलता के इस पद्यांश को लेकर बहुत दिनों तक विद्वानों ने माथा-पच्ची की। इसके पहले 'प्राकृत और देशी' तथा 'अपभ्रंश और देशी' के पारस्परिक सम्बन्ध पर लम्बे लम्बे विवाद हो चुके थे। इस शब्दों से वास्तविक सापेक्ष्य अर्थों पर अब तक काफी लिखा जा चुका है। पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण में देशी पर विचार किया और देश्य या देशी को (भ्रष्टता) 'हेट्रोजीनियस एलिमेंट' का सूचक बताया।[1] जार्ज ग्रियर्सन ने इस विषय पर एक महत्वपूर्ण विचार अपने निबंध 'आन दि माडर्न एंडो ऐर्यन वर्नाक्यूलर्स' में व्यक्त किया।[2] डा० उपाध्ये ने इस विषय पर अपने निबंध 'प्राकृत लिटरेचर' में विस्तार से लिखा[3] और इधर हाल में डा० तगारे ने अपनी पुस्तक में अपभ्रंश और देशी पर एक लम्बा अध्याय ही जोड़ दिया है।[4]

विद्यापति के उपर्युक्त पद्यांश से बहुत से लोगों को भ्रम हो गया था। उक्त पद्यांश के आधार पर कुछ लोगों ने अवहट्ट को देशी से भिन्न माना कुछ ने दोनों को एक। कीर्तिलता के सम्पादक डा० बाबूराम सक्सेना ने इसका अर्थ किया, देशी सब लोगों को मीठी लगती है इसी से अवहट्ट (अपभ्रष्ट) में रचना करता हूँ।[5] डा० सक्सेना के शब्दों से ध्वनित है कि उन्होंने अवहट्ट और देशी

---

१. पिशेल ग्रेमेटिक डर स्प्रेखा पृ० १...४७, तगारे द्वारा उद्धृत हि० ग्रै० अप०

२. जार्ज ग्रियर्सन, यह निबंध इंडियन एंटिक्वेरी के १९३१-३२ के अंकों में आया।

३. इन्साइक्लोपीडिया आव् लिटरेचर, न्यूयार्क।

४. डा० तगारे, हिस्टारिकल ग्रैमर अव् अपभ्रंश।

५. कीर्तिलता, ना०प्र० स० पृ० ७।

को एक माना है । डा० हीरालाल जैन ने पाहुड दोहा कि भूमिका में इस प्रसंग को उठाया । उन्होंने लम्बे लम्बे उद्धरणों से यह सिद्ध किया कि किस प्रकार, स्वयभू, पुष्पदन्त, पद्मदेव, लक्ष्मणदेव आदि अपभ्रंश के कवियों ने अपनी भाषा को देशी माना । अन्त में डा० जैन ने कीर्तिलता वाले पद्य को भी अपने मत की पुष्टि के लिए ठोंक पीट कर तैयार किया और मूल पाठ से कोई ध्वनि न पाकर उन्होंने उसके अर्थ में खींचातानी की । उसका संस्कृत रूपान्तर डा० हीरालाल जैन ने यों दिया :

देशी वचनानि सर्वजन मिष्टानि
तद् तादृशं जल्पे अवभ्रष्टम्

इस तादृश का अर्थ उन्होंने किया तदेव और कहा कि तादृश शब्द से मतभेद हो सकता है किन्तु यहाँ तादृश का अर्थ तदेव की ही तरह है।

इस मत पर विद्वानों की शैली में वैसा ही सन्देह प्रकट किया जा सकता है जैसा प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० ज़ूल ब्लाक ने डा० जैन के पास लिखे अपने ३० नवम्बर सन् ३२ के पत्र में किया ।[१]

एक ओर डा० सक्सेना और डा० जैन इसे 'तदेव' मानते हैं और दूसरी ओर जूल ब्लाक को यह मत मान्य नहीं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी जूल ब्लाक के मत से मिलते जुलते विचार दिये हैं । उक्त पद्यांश का अर्थ करते हुए शुक्ल जी कहते हैं देशी (बोल चाल की भाषा) सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश (देशी भाषा मिला हुआ) मैं कहता हूँ । विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न प्रचलित बोल चाल की भाषा को देशी भाषा कहा है ।[२]

इस तरह इस विषय पर दो मत दिखाई पड़ते हैं । जैसा ऊपर कहा गया कि इस प्रकार के विवादास्पद मत प्राकृत और देशी या 'अपभ्रंश और देशी' पर सदा रहे हैं । इसका कारण क्या है ! साफ है कि यह मत केवल अपने दायरे को सीमित कर लेने के कारण उठे हैं । यदि तर्कशास्त्र की भाषा में कहा जाय तो देशी का जो अर्थ किया जाता है उसमें व्याप्ति दोष आ जाता है । देशी का किस प्रसंग में क्या अर्थ है इस पर ध्यान न देकर हम देशी से अपभ्रंश का तदात्म्य ढूँढ़ने लगते हैं । देशी का अर्थ प्राकृत के प्रसंग में एक है, अपभ्रंश के प्रसंग में

---

1. As regards the identification of Desi = Apabhramsa, I feal doubts. 30-11-32 (**पाहुड दोहा ३३**)

२. आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास १०६ ।

दूसरा और अवहट्ट के प्रसंग में तीसरा। 'देशी' और 'भाषा' ये दो शब्द कब-कब किस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, यह एक बहुत मनोरंजक विषय है। और इनके इसी विकासशील इतिहास के अनुक्रम में इनका वास्तविक सापेक्ष्य अर्थ भी छिपा है। यहाँ संक्षेप में पहले 'देशी' का इतिहास दिया जा रहा है।

देशी शब्द

'देशी' शब्द का सबसे पहला प्रयोग भरत के नाट्य शास्त्र में मिलता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि भरत ने 'देशी' विशेषण शब्द के लिए दिया था, भाषा के लिए नहीं। उनकी राय में जो शब्द संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से भिन्न हों उन्हें देशी मानना चाहिए। भरत के देशी शब्द की यह परिभाषा प्रायः बहुत पीछे तक आलंकारिको और वैयाकरणों द्वारा मान्य रही। काव्यालंकार के रचयिता रुद्रट की राय में तो उन शब्दों को सस्कृत से वहिष्कृत ही कर देना चाहिए जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय विचार के आधार पर न हो सके और जो अपनी रूढ़ि न रखते हों।[1] बारहवीं शती के प्रसिद्ध वैयाकरण हेम चन्द्र ने उस प्रकार के शब्दों की एक 'नाम माला ही बना दी जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय नियम से संभव न थी। यद्यपि उन्होंने उसे 'लक्षण सिद्धता' कहा और देशी उन शब्दों को माना जो 'लक्षण' से सिद्ध नहीं होते। जो न तो संस्कृतामिधान में ही प्रसिद्ध हैं और न तो गौडी लक्षणा से ही सिद्ध होते हैं[2]। उन्होंने लक्षण के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करते हुए कहा कि वे शब्द जो सिद्ध हेमचन्द्र नाम में सिद्ध नहीं हुए हैं और न तो प्रकृति प्रत्यय विभाग से उनकी निष्पत्ति ही संभव है।[3] देशी शब्द के बारे में वैयाकरणों और आलंकारिकों की ऊपर-कथित व्युत्पत्ति-प्रणाली को ही लक्ष्य करके पिशेल ने कहा था कि ये वैयाकरणों प्राकृत और सस्कृत के प्रत्येक ऐसे शब्द को देशी

---

१. प्रकृति प्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देशस्य
तन्मनुहादि कथञ्चन रूढ़िरिति न संस्कृते रूपयते। (काव्यालंकार ६-२७)

२. जो लक्खणे सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु
ण य गउण लक्खणा सति संभवा ते इह णिवद्धा। (देशी नाममाला)

३. लक्षणे शब्द शास्त्रे सिद्ध हेमचन्द्र नाम्नि
ये न सिद्धाः प्रकृति प्रत्ययादि विभागेन न विष्पन्नस्तेऽत्र निंवद्धाः।
टीकावली

कह सकते हैं जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न निकाली जा सके।[1] इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर देशी का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है जिसके बारे में भारतीय वैयाकरण और पिशेल तक की राय है कि ये प्रकृति-प्रत्यय विचार के घेरे के बाहर के शब्द हैं।

देशी भाषा

दूसरी ओर देशी का प्रयोग भाषाओं के लिए भी मिलता है। देशी भाषा शब्द का पहला प्रयोग प्राकृत के लिए हुआ है। पादलिप्त (५०० ई०) उद्योतन (७६६) और कोऊहल ने प्राकृतों को देशी कहा है। तरंगावईकहा के लेखक पादलिप्त ने अपनी प्राकृत भाषा को 'देसीवयण' कहा।[2] उद्योतन ने कुवलय माला में महाराष्ट्री प्राकृत को देशी कहा था और उसे प्राकृत से भिन्न बताया था।[3] कोऊहल ने 'लीलावई' में उसी महाराष्ट्री प्राकृत को 'देशीभाषा' कहा।[4] यह सत्य है कि 'लीलावई' में देशी शब्द भी मिलते हैं, किन्तु स्वयं दूसरी जगह पर कवि ने 'देशी भाषा' को ही प्राकृत भाषा कहा है।[5]

यह ध्यान देने की बात है कि जिस महाराष्ट्री प्राकृत को काव्यादर्श के रचयिता दण्डी ने श्रेष्ठ प्राकृत कहा, क्योंकि उसमें सूक्तियों को रत्नाकर सेतुबन्ध ऐसे काव्य हैं[6] उसी प्राकृत को अपनी मनोहरमुग्धा युवती को कथा

---

१. पिशेल ग्रैमैटिक टि० ६, तागरे द्वारा उद्धृत' हिं० ग्रै० अ०

२. पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसीवयणेहि नाथेण तरंगावई कहा विचित्ता विचित्ता विडलायं (याकोवी द्वारा सनत्कुमार चरित की भूमिका पृष्ठ १७ में उद्धृत)

३. पायय भासा रइया माहट्ठय देसी वयण णिवद्धा
(पांडु लिपि से डा० उपाध्ये द्वारा लीलावई की भूमिका में उद्धृत)

४. भणियं च पियय भाए रइयं मरहट्ठ देसी भासाए
अंगाइं हमोए कहाएं सज्जणा संग जोउगाई, लीलावई गाहा १३३०

५. एमेय युद्ध जुयई मनोहरं पाययाएं भासाए
पविरल देशी सुलक्खं कहसु कहं दिब्ब माणुसियं। लीलावई, गाहा ४१

६. महाराष्ट्रायां भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदु :
सागर सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयन् : काव्यादर्श :

सुनाने वाले कोऊहल ने 'देशी भासा' कहा। उसी को उद्योतन 'देसी' कह कर प्राकृत से भिन्न मानते हैं।

वस्तुतः इन उद्धरणों से ध्वनित है कि जनता प्राकृत को देशी या देशी भाषा के रूप में ही जानती थी। साहित्यिक रूप ग्रहण करने पर उन जन भाषाओं का 'प्राकृत' नाम वैयाकरणों या अलंकारिकों ने दिया। यह साहित्यिक प्राकृत जनता से दूर हो गई। जनता की अपनी भाषा उसी साधारण रूप से विकसित होती रही और उसने विभिन्न अपभ्रंशों का रूप ले लिया। और अब ये अपभ्रंशें प्राकृत के टक्कर में देशी भासा कही जाने लगीं। इसके बाद हम देखते हैं कि अपभ्रंशों के कवियों ने इसी देशी भाषा को 'देसीवयण' देशभास आदि नामों से पुकारना शुरू किया।

प्रसिद्ध कलिकाल सर्वज्ञ कवि स्वयंभू ने अपनी भाषा को देसी कहा।[1] १०वीं शताब्दि के अन्तिम चरण में कवि पुष्पदन्त ने अपना प्रसिद्ध काव्य महापुराण लिखा और उन्होंने अपनी भाषा को 'देसी' कहा।[2] १००० ईस्वी में कवि पद्मदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पासणाहचरिउ (पार्श्वनाथचरित) की भाषा को 'देसीसद्दत्थगाढ' से युक्त बताया।[3]

इस प्रकार के कई कवियों का उल्लेख करके पाहुड़ दोहा की भूमिका में डा० हीरालाल जैन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश ही देशी भाषा है। इनका कथन सत्य है, पर अपभ्रंश को देशी मानने के काल की भी एक अवधि है। इस तथ्य को भूल जाने से हम गलती कर सकते हैं और कहीं भी देशी शब्द देखकर उसे अपभ्रंश कहने के मिथ्या मोह का शिकार हो सकते हैं। चौदहवीं शती के आस पास एक बार फिर भाषा को देशी, ग्रामगिरा, आदि

---

१. दीह समास पवाहा वंकिय सक्कय पायय पुलिणालंकिय
देसी भासा उभय तडुज्जल कवि दुक्कर घण सद्दसिलायल
रामायण १ (हिन्दी काव्य धारा पृ० २६)

२. ण वियाणमि देसी। महापुराण १।८।१०

३. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ
छन्दालंकार विसाल पौढ़
जइ एवायइ बहुलकरवणेहिं
इय विरइयं कव्व विपनसणेहिं (पासणाहचरिउ)

कहने का जोर बढ़ा। विद्यापति का उदाहरण ऊपर है ही। महाराष्ट्री कवि ज्ञानेश्वर ने कहा

अम्हो प्राकृते देशीकारे बन्धे गीता

ज्ञानेश्वरी, अध्याय १८

और इसी आधार पर डा० कोलते ने ज्ञानेश्वरी से ऐसे शब्दों को ढूँढ़ा है जिन्हें उन्होंने मराठी सिद्ध किया।[१] वस्तुतः यहाँ देसी का अर्थ मराठी स्पष्ट है। यद्यपि ज्ञानेश्वरी में परवर्ती अपभ्रंश के रूप भी बहुतांश में मिलते हैं।

परवर्ती कवि तुलसीदास ने भी अपनी भाषा को 'ग्राम्यगिरा' 'भाखा' आदि नाम दिया। इन शब्दों के आधार पर देशी और अपभ्रंश को 'तदेव' मानने की एक काल सीमा बनानी चाहिए।

इस देशी या भाषा शब्द के बारे में थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए इन कवियों के भाषा सम्बन्धी विचारों को गहराई से परखना चाहिए। सत्य तो यह है कि प्रत्येक कवि जो वास्तविक रूप से लोक-मंगल की भावना से काव्य प्रणयन करता है वह लोक सामान्य की भाषा भी ग्रहण करता है। अद्दहमाण ने कहा था कि मेरी भाषा न तो पंडितों के लिए है क्योंकि वे शायद ही सुनें, न तो मूर्खों के लिए ही है क्योंकि उनका प्रवेश कठिन है, इसीलिए यह साधारण लोगों के लिए है।

णहु सहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहइ णहु पवेसि
जिण मुक्ख न पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार

(संदेश रासक)

अपने विचार को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए ये कवि प्रायः एक बहुत ही प्रसिद्ध रूपक का सहारा लिया करते हैं। भाषा को या देशी को सदैव नदी की धारा के समान गतिशील मानते हैं। धारा से अलग होकर कुछ जलवद्ध हो जाता है उसे साहित्यिक भाषा की तरह समझना चाहिए। वैदिक भाषा से अलग वद्धजल के रूप में संस्कृत के निकल जाने पर वह धारा चलती रही और उसे प्राकृत या स्वाभाविक या संस्कृत की तुलना में देशी कहा गया।

---

१. विक्रम स्मृति ग्रंथ पृ० ४७१, उज्जैन सम्वत २००३।

कालान्तर में जब प्राकृत भी साहित्य भाषा बनकर बद्धजल के रूप में घिर गई तब अपभ्रंश उसकी तुलना में धारा की स्वाभाविक गति में आने के कारण 'देशी' कही गई। इसीलिए स्वयंभू कवि ने कहा :

दीह समास पवाहालंकिय सक्कय पायय पुलिणालंकिय
देसी भाषा उभय तडुज्जल कवि दुक्कर घण सद्द सिलायलु

उन्होंने अपभ्रंश को देशी भाषा कहा जो नदी की धारा की तरह है जिसके दोनों किनारे संस्कृत और प्राकृत हैं।

परन्तु इस अपभ्रंश की भी वही अवस्था हुई। यह भी साहित्य भाषा बन कर धारा से अलग हुई और बाद में देशी भाषाएँ मैथिली, अवधी, मराठी, या अन्य कहीं गई। तुलसी की अवधी में लिखी गई कविता 'सुर सरिता' के समान चली और कबीर ने संस्कृत के 'कूप जल' की तुलना में 'भाखा' को बहता नीर कहा।

इस प्रकार देशी या भाषा दोनों ही शब्दों के वास्तविक सापेक्ष्य अर्थ को समझना चाहिये। देसी भाषा का अर्थ और लक्ष्य भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न हो सकता है। देशी ही नहीं प्राकृत और अपभ्रंश आदि शब्दों का भी बड़ा विस्तृत अर्थ लिया जाता था। अवहट्ट के साथ विद्यापति ने जिस 'देसिल वयन' का नाम लिया है उसका संकेत मैथिली की ओर है और उसे व्यापक अर्थ में अभ्रंश की तुलना में सभी आधुनिक आर्य भाषाओं के लिए अभिधेय मान सकते हैं इस लिए अवहट्ठ और 'देसिलवयन' को तदेव सिद्ध करने का आग्रह निराधार और व्यर्थ है।

अवहट्ट की रचनाएँ

अपभ्रंश में देश-भेद की पर्याप्त चर्चा सुनाई पड़ती है इस विभाजन के मूल में कई प्रकार के विचार दिखाई पड़ते हैं। काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु ने तीन प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। उपनागर, आभीर और ग्राम्य ये तीन अपभ्रंश के भेद नमिसाधु ने बताए।[1] मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व में अपभ्रंश के मुख्यतया तीन भेद ही स्वीकार किया यद्यपि उन्होंने देशभेद के आधार पर कई प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की।

नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः
अपभ्रंश परो सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ् मता

(प्राकृतसर्वस्व ७)

मार्कण्डेय ने अपभ्रंशों में व्राचड, लाट, उपनागर, नागर, वार्वर, अवन्त्य, पाञ्चाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड, ओद्र, पाश्चात्य पांड्य, कौन्तल, सैहंल कालिंग्य, प्राच्य, कार्णाट्, काञ्च्य, द्राविड, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय, वैताल आदि की गणना की है।

इन भेदों को देखने से मालूम होता है कि ये तत्कालीन प्रचलित देशी भाषायें हैं जो उस काल में अपभ्रंश कही जाती थीं इनका स्वरूप क्या था, परिनिष्ठित अपभ्रंश से उनका कितना साम्य था, इसे जानने का कोई आधर नहीं। बहुत से विद्वान् इस नामों के आधार पर इन अपभ्रंशों का सम्बन्ध वर्तमान क्षेत्रीय भाषाओं से जोड़ते हैं, और इन्हें आधुनिक भाषाओं का पूर्वरूप स्वीकार करते हैं, किन्तु जब तक इन अपभ्रंशों का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता, ऊपर के विचार अनुमान मात्र हो कहे जायेंगे।

अवहट्ट काल में बहुत सी आधुनिक भाषाएँ एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुकी थीं। अवहट्ट काल में भी अभ्रंश के पूर्व कथित देशभेद अवश्य थे। १६ वीं शतीमें मार्कण्डेय ने जिन अभ्रंशों की चर्चा की वे किसी न किसी रूप में शायद रहे हों; परन्तु अवहट्ट के ही ये देश भेद थे, मैं उसे स्वीकार नहीं करता।

---

१. स चान्यैरुपनागराभोरग्राम्यत्वभेदने त्रिधा। टीका, (काव्यालङ्कार २।१२)

अवहट्ट जैसा कहा गया मूल रूप से शौरसेनी अपभ्रंश या पश्चिमी अभ्रंश का कनिष्ठ रूप है, इसमें क्षेत्रीय प्रयोग हो सकते हैं, इनके आधार पर चाहें तो दो एक मोटे भेद भी स्वीकार कर लें, किन्तु ऊपर गिनाए भेदों को अवहट्ट के प्रकार कह देना उचित नहीं लगता।

अवहट्ट की जो रचनाएँ प्राप्त हैं उनके आधार पर अवहट्ट के केवल दो भेद स्वीकार किए जा सकते हैं। एक पूर्वी अवहट्ट दूसरा पश्चिमी अवहट्ट। उक्ति व्यक्ति प्रकरण के आधार पर एक मध्य देशी भेद भी कर सकते हैं किन्तु इस भेद की कोई खास आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इसमें प्रायः पूर्वी और पश्चिमी अवहट्ट के प्रयोग मिले जुले रूप में मिलते हैं; प्राकृत पैंगलम में भी, जो कि मूल रूप से पश्चिमी अपभ्रंश में लिखी गई है, पूर्वी प्रयोग मिलते हैं।[१] इस प्रकार केवल दो प्रकार ही साधार प्रतीत होते हैं।

१—पूर्वी अवहट्ट में कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, प्राकृत पैंगलम् के पूर्वी प्रभाव के अंश, उक्ति व्यक्ति प्रकरण के पूर्वी प्रयोग आदि गृहीत हो सकते हैं।

विद्यापति की 'कीर्तिपताका' भी अवहट्ट में लिखी गई रचना मालूम होती है किन्तु जब तक उसकी कोई ठीक-ठीक प्रति नहीं मिलती, कुछ कह सकना कठिन है। विद्यापति ने अवहट्ट भाषा में कुछ फुटकल कविताएँ भी लिखी हैं। नीचे उनमें से एक उद्धृत की जाती है।

अनल रन्ध्र कर लक्खन इरवन सक समुद्द कर अगिनि ससी
चैत करि छवि जेण मिलि अओ बार वेहप्पवय जाहु लसी
देवसिंह जू पुहुमि छड्डिय अद्धासन सुरराय सरू
दुहु सुरताण निंदे अब सेरहउ तपनहीन जग तिमिर भरू
देखहुँ ओ पुहुमी के राजा पौरुष माँझ पुराण बलिओ
सतबले गंगा मिलित कलेवर देव सिंह सुरपुर चलिओ
एक दिसि जवन सकल दल चलिओ एक दिसि जयराज चरू
दुहुओ दल क मनोरथ पुरुओ गरुए दाप सिवसिंह करू
सुरतरु कुसुम घालि दिस पूरओ दुन्दुहिं सुन्दर साद धरू
वीर छत्र देखने को कारन सुरगन सोभे गगन भरू।

यह महराज देवसिंह की मृत्यु पर सिवसिंह के युद्ध का वर्णन है। इस रचना की निचली पक्तियों की सरलता और उनकी सहजता का अनुमान स्पष्टता

---

१. रामचद्र शुक्ल, बुद्धचरित की भूमिका।

से हो जाता है। भाषा की गति, तत्सम के प्रयोग, निर्विभक्तिक वाक्य गठन सब कुछ देखने योग्य हैं।

चर्यागीत

चर्यागीत बहुत वर्षों तक भाषा शास्त्र के क्षेत्र में विवाद के विषय बने रहे। जैसा पहले ही कहा गया इनको प्रायः पूर्वी भाषा-भाषी लोगों ने अपनी अपनी भाषा का प्राचीन रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रंथ का सबसे पहला परिचय म० म० हरप्रसाद शास्त्री की 'बोद्ध गान ओ दोहा' नामक पुस्तक के प्रकाशन से हुआ। इस पुस्तक की विद्वतापूर्ण भूमिका में शास्त्री जी ने इसे प्राचीन बंगला स्वीकार किया। इसी आधार पर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने इसे बंगला सिद्ध किया और उन्होंने इसके प्रमाण में बहुत से तर्क दिए। बौद्ध गान और दोहा में तीन प्रकार की रचनाओं का संग्रह है। १. चर्चाचर्य विनिश्चय २. सरोज वज्र तथा कृष्णपाद का दोहाकोश ३. डाकार्णव।

डा० चाटुर्ज्या की राय में दोहाकोश की भाषा तो निश्चित रूप से शौर सेनी अपभ्रंश है क्योंकि उसमें शौरसेनी अभ्रंश की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं।[1]

१. कर्ताकारक में संज्ञाओं के उकारान्त रूप।

२. सम्बन्ध में 'ह' विभक्ति।

३. कर्मवाच्य में 'इज' युक्त रूपों की प्राप्ति।

४. और इसकी मूल प्रवृत्ति का पश्चिमी अपभ्रंश से पूर्ण साम्य।

किन्तु चर्चाचर्य विनिश्चय को सुनीति बाबू ने पुरानी बँगला कहा। उसके कारण उन्होंने इस प्रकार बताए।

१. सम्बन्ध की विभक्ति एर अर, सम्प्रदान में रे, अधिकरण में त विभक्तियों का प्रयोग।

२. मांझ, अन्तर संग आदि परसर्गों का प्रयोग।

३. भविष्यत् काल में इब तथा भूतकाल में इल का प्रयोग न कि बिहारी अब तथा अल का।

४. पूर्वकालिक क्रिया में 'इआ' प्रत्यय का व्यवहार।

५. वर्तमान कालिक कृदत 'अन्त' का व्यवहार।

---

१. वैं. ले पृ० ११२

६. कर्मवाच्य की विभक्ति 'इअ' का व्यवहार।

७. 'अछ' और 'थाक' क्रियाओं का व्यवहार मैथिली 'थीक' का नहीं।

सुनीति बाबू के तर्कों की समीक्षा के पहले में डा० जयकान्त मिश्र[1] और शिवनन्दन ठाकुर[2] के तर्कों को भी नीचे दे देना चाहता हूँ जिसके आधार पर इन लोगों ने चर्यागीतों को प्राचीन मैथिली कहने का दावा पेश किया है।

१. विशेषण में लिंग निरूपण, स्त्रीलिंग में, संज्ञा के साथ स्त्रीलिंग विशेषण तथा स्त्रीलिंग कर्ता के साथ स्त्रीलिंग क्रिया का व्यवहार जैसे दिढि टांगी (चर्या। ५) सोने भरिती करुणा नावी। खुंटि उपाडी मेलिलि काछी (चर्या। ८) तोहोरि कुडिआ (चर्या। १०) हाउं सूतेलि (चर्या। १८)

२. हओ या हाउं का प्रयोग जो विद्यापति में है चर्याओं में पाया जाता है पर बंगला में नहीं।

३. अपणे सर्वनाम का प्रयोग चर्याओं और मैथिली दोनों में पाया जाता है। बंगला में नहीं मिलता।

४. चर्याओं में वर्तमान काल के अन्य पुरुष की क्रिया में 'थि' विभक्ति लगती है। भणथि (चर्या २०) तथा बोलथि (चर्या २६)।

५. प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आव' चर्याओं में पाया जाता है। वन्धावए (चर्या २२)

६. विद्यापति के पदों में एरि विभक्ति पाई जाती है।

७. चन्द्रविन्दु के रूप में विभक्तियों का प्रयोग चर्याओं में पाया जाता है यह प्रयोग मैथिली का अपना है।

८. 'अछ' क्रिया बंगला तथा मैथिली दोनों भाषाओं की सम्पत्ति है।

यदि ध्यान पूर्वक ऊपर के दोनों तर्कों पर विचार करें तो लगता है जैसे स्वयं ये एक दूसरे की वास्तविकता को चुनौती देते हैं। वस्तुतः चर्याओं की भाषा पर मैथिली, भोजपुरिया और मगही भाषाओं का प्रभाव अधिक है बंगला का कम। और इसके सबसे बड़ा कारण चर्याओं के निर्माताओं के निवास स्थान हैं जो इन भाषाओं के घेरे में ही पड़ते हैं। बंगाली विद्वानों ने बहुत से सिद्धों को बंगाल देश का भी बताया है। बहुत संभव है कि इनमें से कुछ हों भी परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है कि चौरासी सिद्धों में से अधिकांश विक्रम-

---

१. हिस्ट्री अव् मैथिली लिटरेचर, चर्या सम्बन्धी निबन्ध,

२. महाकवि विद्यापति पृ० २१५...१६।

शिला और नालन्दा के प्रसिद्ध विहारों से सम्बद्ध थे।[१] और यही कारण है कि उनकी कविताओं में अवहट्ट के ढांचे साथ साथ मैथिली भोजपुरिया आदि के रूपों का बाहुल्य है। डा० चाटुर्ज्या के तर्कों पर विचार किया जाय तो वे बहुत दूर तक पुष्ट और मान्य सिद्ध नहीं होंगे। मांझ, अन्तर, संग आदि परसर्गों का प्रयोग कीर्तिलता में ही नहीं प्राकृत पैंगलम आदि में भी मिलता है।[२] भविष्यत् काल में इसका प्रयोग भोजपुरिया में पाया जाता है। हम जाइब, हम खाइब, में प्रयोग प्रायः उत्तम पुरुष के हैं और चर्याओं में भी ये उत्तम पुरुष में ही पाए जाते हैं। खाइब मंह : ३६ : लोडिब चा : २८ : जाइब : २१ : मध्यम मुरुष में भी आए हैं पर निरादरार्थ में। थाकिव तैं कैसे : ३६ : भोजपुरिया में भी तूं 'जइबे' होता है। इल का प्रयोग भी भोजपुरिया की विशेषता है। ऊ गइल, रात भइल, चर्याओं में ऐसे ही रूप मिलते हैं। इनको बंगला मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। पूर्वकालिक क्रिया के लिए इअ या इआ प्रत्यय का व्यवहार बंगला की हा कोई विशेषता हो ऐसी बात नहीं। यह अवहट्ट की अपनी विशेषता है। इसका प्रयोग कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, प्राकृत पैंगलम में बहुत मिलता है।[३] वर्तमान कालिक कृदन्त के अन्त वाले रूपों का व्यवहार भी अवहट्ट की सर्वमान्य विशेषता है और जैसा तेसीतरी ने कहा है कि अवहट्ट की यह अपनी विशेषता है।[४] इसका भी प्रयोग पश्चिमी पूर्वी सभी अवहट्ट ग्रंथों में धड़ल्ले से हुआ है। कर्मवाच्य के इअ और इज्ज दोनों रूप अवहट्ट में मिलते हैं। इस प्रकार इनके आधार पर चर्यागीतों को बंगला मान लेने का कोई सबल आधार नहीं है। वस्तुतः ये अवहट्ट की रचनाएँ हैं और इनमें इन क्षेत्रीय प्रयोगों के भीतर मूल ढांचा कनिष्ठ शौरसेनी अपभ्रंश का है। सर्वनाम में अपने, तोर, मों, हउं, जो, जेण, जसु, तसु का प्रयोग अधिकतर भरा पड़ा है। सर्वनामों के बने विशेषणों के जैसन, तैसन, रूप तथा जेम तेम जिम, अइस आदि रूपों का प्रयोग मिलता है। भूतकाल में केवल 'ल' प्रत्यय युक्त ही रूप नहीं, गिउ, हुअ, अहरिउ, थाकिउ आदि भूत कृदन्त से बने रूप भी मिलते हैं जो शौरसेनी अपभ्रंश पाये जाते हैं। इस प्रकार यह निश्चिन्त है

---

१. राहुल जी का निबन्ध ,गंगा पुरातत्वांक।

२. अवहट्ट भाषा की विशेषताएँ शीर्षक अध्याय § २५

३. कीर्तिलता की भाषा §७२

४. टेसीटरी, इंडियन एंटिक्वेरी १९१४ फरवरी। अवहट्ट की विशेषताएँ §२३

कि चर्यागीत अवहट्ट की रचनाएँ हैं उन्हें अपनी अपनी भाषाओं के विकास में सहायक समझना और अपना मानना बुरा नहीं है, किन्तु ऊपर दूसरे का अधिकार न मानना अनुचित है।

पश्चिमी अवहट्ट में गुर्जर काव्य संग्रह की रचनाएँ, प्राकृत पैंगलम्, सन्देश रासक, रणमल्ल छन्द, आदि प्रकाशित रचनाओं को शामिल किया जा सकता है। विनय चन्द सूरि की नेमिनाथ चतुष्पदिका (१३०० ?) अंबदेव सूरि का समर रास (१३१४ ई०), जिनपद्मसूरि का थूलभद्दफागु १२०० ईस्वी तथा श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द १४०० ई० आदि रचनाएँ परवर्ती अपभ्रंश के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं।

इस प्रकाशित सामग्री के अलावा न जाने कितनी विपुल सामग्री अद्यावधि अप्रकाशित रूप में भांडारो तथा पुस्तकालयों में दबी पड़ी है। तेसीतरी ने अपना पुरानी पश्चिमी राजस्थानी सम्बन्धी जो निबंध प्रस्तुत किया है, उससे पिछले अपभ्रंश की विपुल सामग्री का पता चलता है। तेसीतरी ने यह सामग्री इंडिया हाउस के पुस्तकालय तथा फ्लोरेंस के पुस्तकालयों में संरक्षित पाण्डुलिपियों से प्राप्त की थी। जैन भांडारो की सामग्री के सूचीपत्र मात्र से ही इस प्रकार के अप्रकाशित ग्रंथों के महत्व का पता चलता है। आमेर भांडार के सूचीपत्र में परवर्ती अपभ्रंश के कई नए कवियों का पता चलता है।

अवहट्ट का गद्य

संस्कृत भाषा ने विपुल गद्य साहित्य उपलब्ध है। वाण, सुवन्धु, दंडी आदि ने गद्य साहित्य को जो चरम विकास दिया वह किसी भी भाषा के गद्य के लिए स्पर्धा की वस्तु है। गद्य के विभिन्न प्रकार निश्चित किए गए। वामन ने वृत्तगन्धि उत्कलिका प्राय, और चूर्णक ये तीन भेद बताए जिसमें विश्वनाथ कविराज ने एक चौथा प्रकार मुक्तक भी स्वीकार किया। मुनि जिन विजय जी ने धनपाल नामक कवि की तिलकमंजरी के गद्य की बड़ी प्रशंसा की है "समस्त संस्कृत साहित्य के अनन्त ग्रंथ संग्रह में वाण की कादम्बरी के सिवाय इस कथा की तुलना में खड़ा हो सके ऐसा कोई दूसरा ग्रंथ नहीं है। वाण पुरोग भी है, उसकी कादम्बरी की प्रेरणा से ही तिलकमंजरी रची गई है; पर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि घनपाल की प्रतिभा वाण की चढ़ती हुई न हो तो उतरती हुई भी नहीं है।"

सहसा इस बीच में के गद्य का अभाव सा हो जाता है और प्राकृत

में नाम के लिए थोड़ा सा गद्य प्राप्त हैं जिसे न होना ही कहना चाहिए। कौतूहल की लीलावई में कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं। 'समराइच्च कहा' और 'वसुदेव हिंडी' में भी गद्य है। अपभ्रंश में कुवलय माला कथा में कुछ गद्य मिलता है। इसके गद्य में तत्सम शब्दों की भरमार है। पर संस्कृत की तरह बहुत लम्बे लम्बे समस्त पद नहीं मिलते न तो इसमें बीच बीच में तुकान्त करने की प्रवृति ही दिखाई पड़ती है। एक छोटा सा उदाहरण नीचे है।

भो भो भट्टऊत्ता तुम्हें ण याणह यो राजकुले वृतान्त
तेहिं भणियं भण हे व्याघ्रस्वामि का वार्ता राजकुले
तेण भणियं कुवलयमालाए पुरिसदेवषिणीर पातश्रो लंविता:
इमं च सोऊण अफ्फोडिऊण एक्को उट्ठिउ चट्टो। भणियं च
णेणं यदि पाँडित्येन ततो मइं परियेतव्य कुवलयमाल।

पूर्ववर्ती अपभ्रंश में गद्य का प्रयोग बहुत कम दिखाई पड़ता है। परन्तु अवहट्ट काल में आते आते गद्य साहित्य का विकास होने लगता है। जैसा कि पहले ही कहा गया। अवहट्ट का विपुल साहित्य अद्यावधि अप्रकाशित ही पड़ा है। इस विशाल साहित्य का कुछ भाग कभी कभी विद्वानों द्वारा यत्र तत्र परिचय के लिए प्रकाशित अवश्य होता है जो उसके विकास और गठन की प्रौढ़ता का द्योतक तो अव१य होता है किन्तु शास्त्रीय अध्ययन का विषय कठिनाई से बन सकता है। फिर भी इस साहित्य का बहुत भाग प्रकाश में भी आ गया है! प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह की २१ रचनाओं में ७ गद्य की रचनाएँ हैं, जो भिन्न भिन्न कालों के विकास क्रम को दिखाती हैं। अवहट्ट मिश्रित गुजराती गद्य 'प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ' में संग्रहीत हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने सम्वत् १९९८ में ही किसी अप्रकाशित ग्रन्थ के कुछ नमूने 'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' शीर्षक से नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराया था।[1] इधर उन्होंने यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी के जर्नल के बारहवें भाग में तरुणप्रभ सूरि नामक जैन विद्वान की पुस्तक 'दशार्णभद्रकथा' की सूचना प्रकाशित कराई है। इससे मालूम होता है कि चौदहवीं शती के इस जैन कवि के गद्यों में भी तत्सम शब्दों की प्रधानता है।

पूर्वी क्षेत्रों में गद्य की दो पुस्तकें मिलती हैं। पहली ज्योतिरीश्वर ठाकुर

---

1. श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६ अंक ३।

की वर्णरत्नाकर और विद्यापति की कीर्तिलता। वर्णरत्नाकर सम्पूर्ण गद्य में ही है। वर्णरत्नाकर की भाषा में जैसा निवेदन किया गया शब्द सङ्कलन की प्रधानता के कारण गद्य-प्रौढि का दर्शन नहीं होता। फिर भी गद्य की यह एक बड़ी ही अमूल्य निधि है। कीर्तिलता में गद्य का प्राधान्य है और यह अपनी अलग विशेषता रखता है। नीचे अवहट्ट गद्य के कुछ उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं।

१—उक्ति व्यक्ति प्रकरण

गांग न्हाएं धर्म हो, पापु जा। जस जस धर्म बाढ़, तस तस पापु घाट। जब जब धर्म बाढ़, तब तब पापु ओहट। जैसें जैसें धर्म जाम तैसें तैसें पापु खाम। जेइं जेइं धर्मु पसर तेइं तेइं पापु ओसर। यैहा यैहा धर्मु चड, तैहा तैहा पापु खस। जाहाँ जाहाँ धर्मु नाद, ताहाँ ताहाँ पापु मान्द।

२—वर्णरत्नाकर

गौमेदक पारी चारिहु दिसि छलालि अछ! इन्द्रनीलक साटि पद्मराग चक्र हिमालयक पुरुष अधिष्ठान वइसल अच्छ। चुत चन्दन चाप श्रीफल, अशोक, अगरु, अश्वत्थादि ये अनेक वृक्ष तें अलंकत पंक तट अइसन सर्व्वगुण सम्पूर्ण पोखरा देषु।

३—आराधना १३६०।

.. परमेष्ठि नमस्कारु जिन शासनसारु चतुर्दशपूर्व समुद्धार सम्पादित सकल कल्याण संभारु विहित दुरितापहारु क्षुद्रोपद्रवपर्वत वज्रप्रहारु लीलाइलित संसारु सु तुम्हि अनुसरहु पंचमरमेष्ठिनमस्कारु स्मरहि, तज तुम्हि स्मरेवउ, अनइ परमेश्वरि तीर्थंकरदेवि, इसउ अर्थ मणियउ अच्छइ। अनइं संसारतणउ प्रतिमउ म करिसउ अनइ सिद्ध नमस्कारा इहालोकि परलोकि सम्पादियइ। आराधना समप्तेति।

४—पृथ्वी चरित्र पृ० ६६ सम्वत् १४७८। माणिक्य सुन्दरसूरि

तिणि पाटणि राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र इसियं नामियं राज्य प्रतिपालइ। भुजबल करि वयरो वर्ग टालइ। जिणि राजा गौडु देश नउ राउ गंजिउ, भोटनउ भंजिउ, पंचालनउ राज पालउ पुलइं करनडा देशनउ कोठारि रुलइं ढोसमुद्रतउ ढोमणां ढोयइ, वाबरउ वारि वइठउ, टगमग जोयइ, चौवनउ दंड चांपिउ, कास्मीरनउ कांपिउ सोरठीयउ सेवइ, तुडि न करेइ देवइ।

सभी रचनाएं गुर्जर काव्य संग्रह से ली गई हैं।

पृथ्वी चरित्र काफी लम्बी और परवर्ती अपभ्रंश गद्य की बड़ी ही प्रौढ़ रचना है।

५—अतिचार सम्वत् १३४० ।

वारि भेदु तप छहि भेद । वाह्य अणसण इत्यादि । उपवास आंवुलनीविय, एकासणु पुरिगड्ढ व्यासणं, यथा शक्तितपु तथा ऊनोदरितपु वृत्तिसंखेउ। उपवास कीधइ, वीरासइं सवित्त पाणिउ पीघउ हुअइ ।

६—सम्वत् १३५८ सर्वतीर्थनमस्कारस्तवन ।

पहिलउ त्रिकालअतीत अनागत वर्तमान वहत्तरि तीर्थंकरि सर्वपाप क्षयंकर हउं नमस्करउं । तदनन्तर पांचे भरते, पांचे ऐरावते पांच महाविदेहे सन्तरिसउ उत्कृष्टकलि विहरभाग हउं नमस्करउं ।

कीर्तिलता के उदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं क्योंकि उसके गद्य का परिचय अपेक्षित नहीं है ।

अवहट्ट गद्य की विशेषतायें ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती हैं। जहाँ तक भाषा का सवाल है इसकी गठन से ही स्पष्ट है कि इस प्रकार का गद्य पूर्ववर्ती काल में नहीं लिखा जा सका। प्रथम तो गद्य की भाषा में जब तक संस्कृत शब्दों का मिश्रण नहीं होता आर्यभाषाओं में से किसी भाषा का भी गद्य विचारपूर्ण रचनाओं के लिए समर्थ नहीं हो पाता। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान तथा भक्ति आन्दोलन के कारण तत्सम का प्रचार होने लगा। कुवलयमाला कथा, उक्तिव्यक्ति प्रकरण के उदाहरणों से स्पष्ट है कि १२वीं शती के आस पास ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगती है। बाद में तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचार ही नहीं उस भाषा के गद्य की बहुआदृत समस्त पदों वाली पद्धति का भी अनुसरण किया गया। कीर्तिलता में ही लम्बे लम्बे तीन तीन वाक्यों के समस्त पद मिलते तो कोई बात भी थी। अन्य जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें भी यह चीज परिलक्षित होती है। इस गद्य की दूसरी विशेषता है एक वाक्य में ही पदों के तुकान्त अथवा कभी कभी वाक्यान्तों में भी तुकान्त का प्रयोग। कीर्तिलता में यह बड़ी प्रचलित है।

'अरे अरे लोकहु वृथाविस्मृत स्वामिशोकहु कुटिलराज नीति चतुरहु मोर वअन आकराणे करहु। तन्हि वेश्यान्हि करो सुखसारमंडन्ते अलक तिलका पत्रावली खंडन्ते, दिव्यांवर पिन्धन्ते, उभारि उभारि केश पास बन्धन्ते, सखिजन प्रेरन्ते, हवि हेरन्ते आदि।' यह प्रवृत्ति आराधना, पृथ्वीचंद्र, अतिचार आदि रचनाओं

के उदाहरणों में लक्ष की जा सकती है। यह अन्तर्पदीय तुकान्त की प्रवृत्ति निःसन्देह विदेशी है। मुसलमानों के सम्पर्क में आने पर फ़ारसी तुकों की तरह निर्मित मालूम होती है। हिन्दी गद्य के आरंभ में ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी थी। खड़ी बोली के बहुत से नाटकों में भड़ौवा तर्ज के अन्तर्तुकान्त गद्य मिलेंगे। रासो की वचनिकाओं में भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है। गद्य की तीसरी विशेषता है वाक्य गठन की। इनमें वाक्यों को तोड़ तोड़ कर, सर्वनाम के प्रयोगों के साथ नए वाक्य जोड़ने (Periphresis) की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ऊपर के कुछ गद्यों में 'इसियं' से वाक्य शुरू किया गया है।

अवहट्ट की मुख्य विशेषताएँ और उसका हिन्दी पर प्रभाव

पिछले वर्षों में भाषाशास्त्र के अध्येता के सम्मुख अपभ्रंश की विपुल सामग्री उपस्थित हो गई है, इसलिए हिन्दी या आधुनिक आर्य भाषाओं के अध्ययन में अपभ्रंश की देन पर वह पिशेल या याकोबी से अधिक विश्वास के साथ विचार व्यक्त कर सकता है। किन्तु इस पुष्कल सामग्री के उपलब्ध हो जाने के कारण भाषा का अध्ययन करने वालों का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है, अपभ्रंश, जैसा कि इसके इतिहास से प्रतीत होता है, ६ वीं ७ वीं शताब्दि से १६ वीं तक किसी न किसी रूप में साहित्य रचना के माध्यम के रूप में स्वीकृत रहा है, इसलिए सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य अपभ्रंश का ही कहा जाता है और उसे हम ज्यों का त्यों वर्तमान आर्य भाषाओं का पूर्ववर्ती साहित्य मानकर उसमें इन भाषाओं के उद्गम और विकास के सूत्र भी ढूँढ़ने लगते हैं। यह ठीक भी है किन्तु यदि अपभ्रंश की पूरी सामग्री की छान-बीन की जाय तो अपभ्रंश के दो रूप स्पष्ट मिलेंगे। एक रूप बहुत कुछ प्राकृत भाषाओं से प्रभावित है। इसमें प्राकृत के तद्भव शब्दों की अधिकता है, वाक्य-गठन भी प्राकृत की तरह ही है। कभी-कभी तो अपभ्रंश की प्राचीन रचनाओं में क्रियापदों के कुछ रूपों को छोड़ कर भाषा का पूरा स्वरूप प्राकृतवत लगता है। इसीलिए याकोबी ने कहा था कि अपभ्रंश मुख्यतः प्राकृत के शब्द कोश और देशभाषाओं के व्याकरणिक ढाँचे को लेकर खड़ा हुआ। देशभाषाएँ जो मुख्यतः पामरजन की भाषाएँ थीं वे शुद्ध रूप में साहित्य के माध्यम-रूप में गृहीत नहीं हुई इसलिए वे साहित्यिक प्राकृत के भीतर सूत्र रूप से गूथ दी गईं और उसी का फल अपभ्रंश है।[१] याकोबी के इस कथन में जो भी तथ्य हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि पूर्ववर्ती अपभ्रंश पर प्राकृत के घोर प्रभाव को देखकर ही याकोबी को इस तरह का विचार व्यक्त करना पड़ा। अपभ्रंश से हिन्दी के विकास का सूत्र सुलझाने वाले विद्वा न्

---

१. याकोबी, भविसयत्त कहा पृ० ६८, भायाणी द्वारा सन्देश रासक के व्याकरण में उद्धृत

भी पुरानी अपभ्रंश में हिन्दी के बीज ढूंढ़ने का कष्ट कम ही करते हैं। कारण स्पष्ट है। प्राचीन अपभ्रंश में उनको ऐसे सूत्र कम मिलते हैं, परवर्ती अपभ्रंश में ही इस तरह के सूत्र मिल सकते हैं क्योंकि परवर्ती काल में अपभ्रंश बहुत कुछ प्राकृत प्रभावों को झाड़ने लगा था और उसमें देशभाषाओं का वह मूल ढाँचा विकसित हो रहा था, जो एक तरफ अपभ्रंश से भिन्न जन भाषाओं में नया रूप ग्रहण कर रहा था। अपभ्रंश की न्यून सामग्री के आधार पर भी, गुलेरी जी ने इस तथ्य को पहचाना था और उन्होंने स्पष्ट कहा कि अपभ्रंश दो तरह की थी। "पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती थी, पिछली पुरानी हिन्दी से"[1] दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा 'विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह पुरानी हिन्दी (परवर्ती अपभ्रंश) में परिणत हो गई।[2]

हम इस स्थान पर यही दिखाना चाहते हैं कि परवर्ती अपभ्रंश किन बातों में पूर्ववर्ती से भिन्न था। वे कौन सी मुख्य विशेषताएँ हैं जो अवहट्ट में तो दिखाई पड़ती हैं किन्तु जिनका परिनिष्ठित अपभ्रंश में अभाव है या वे अविकसित अवस्था में दिखाई पड़ती हैं। इसी के साथ-साथ प्रसंगानुसार हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि ये प्रवृत्तियाँ बाद में हिन्दी के विकास में कैसे सहायक हुई। हिन्दी अवहट्ट से विकसित नहीं हुई हिन्दी के विकास में इस अवहट्ट का प्रभाव अवश्य माना जा सकता है। वैसे हिन्दी शब्द भी भाषा शास्त्रीय दृष्टि से उलझा हुआ है। स्पष्टीकरण के लिए इतना और निवेदन कर दूं कि हिन्दी से मेरा मतलब पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी है विशेषतः अवधी, ब्रज और खड़ी बोली।

अवहट्ट की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं पर विचार करने के पहले इतना और कह देना आवश्यक है कि अवहट्ट के पूर्वी और पश्चिमी भेदों को अलग-अलग दिखाना उचित नहीं जान पड़ा। क्योंकि अव्वल तो पूर्वी और पश्चिमी भेद नए नहीं हैं, यानी ये भेद पूर्ववर्ती अपभ्रंश में भी थे। ये क्षेत्रीय विशेषताएँ हैं, इन्हें अवहट्ट की मुख्य विशेषताएँ नहीं कह सकते; फिर भी क्षेत्रीय प्रयोगों में जो प्रयोग व्यापक और प्रभावशाली हैं, उनका प्रासंगिक रूप से वर्णन अवश्य किया जायेगा।

अवहट्ट की प्रवृत्तियों के निर्धारण में मुख्यतया नेमिनाथ चतुष्पदिका

---

1. पुरानी हिन्दी पृ० १७। 2. वही पृ० ७

सन्देश रासक, प्राकृत पैंगलम्, थूलिभद्द फागु, कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, चर्यागीत और उक्ति व्यक्ति की भाषा को ही आधार रूप में ग्रहण किया है।

ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ

अपभ्रंश और अवहट्ट में ध्वनि-विचार की दृष्टि से कोई बहुत महत्वपूर्ण अन्तर नहीं दिखाई पड़ता; फिर भी परवर्ती अपभ्रंश में कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलती हैं जो पूर्ववर्ती में नहीं हैं या कम हैं।

§१—पूर्व स्वर पर स्वराघात—प्राकृत के संयुक्त व्यंजनों को उच्चारण की दृष्टि से थोड़ा सहज बनाने के लिए हटा दिया जाता है और उनके स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग होता है। ऐसी अवस्था में कभी संयुक्त व्यंजनद्वित्व के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। कभी दीर्घ नहीं भी करते, परन्तु मुख-सुख के लिए द्वित्व को सरल कर लेते हैं। डा० तेसीतरी ने इसे अवहट्ट की सर्व प्रमुख विशेषता स्वीकार किया।[1]

क—क्षतिपूरक दीर्घीकरण की सरलता

ठाकुर (कीर्ति २/१०<ठक्कुर) दूसिहइ (कीर्ति १/४ <दुस्सिहइ = दुस्स = दुष्य) काज (कीर्ति० ३/१३४ <कज्ज = कार्य) लाग (कीर्ति० २/१०८∠लग्ग = लग्ने) ऊसास (स० रा० ६७ क< उस्सास = उच्छ्वास) णीसास (सं० रा० ८३ ग = निस्सा = निश्वासः) वीसरइ (सं० रा० ५४ ग <विस्स = विस्मरति) दीसहि (स० रा० ६८ घ = दिस्सं = दृश्यं) पीसियइ (सं० रा० १८७ क <पिस्स = पिष्य°) आसोय (स० रा० १७२ क<* अस्सउय< = अश्वयुज)। नाचइ (थूलि० फा० ६<नच्चइ = नृत्यति) आछइ (नेमि० चतु० ११<अच्छइ = *अक्षति) दीठइ (नेमि० चतु० १६.∠ देट्ठइ दृष्ट°) दीजइ (नेमि० १६ दिज्जइ = दीयते)। सांझ (उ० व्यक्ति ५१/६ सिज्झ = सिद्धयति) बीदा (उ० व्यक्ति १४/१६<विद्दा<विद्या) झूठ जूठ उ० व्यक्ति ५२/३ = उच्छिष्टम्) मीत (उ० व्यक्ति २३/८∠मित्त = मित्र) सीध (उ० व्यक्ति ४७/१७< = सिद्ध) ईसर (उक्ति० व्यक्ति ०/१७∠इस्सर = सं० ईश्वर) णीसंक (प्रा० पै० १२८/४ = निःशंक) तासु प्रा० पै० ३०/६<तस्स = तस्य) वीसाम (प्रा० पै० १७३/४ = विश्रामः) सूणी

---

1. तेसी तरी, इंडियन एंटिक्वेरी. १९१४ O. W. R.

(४८१।४ प्रा० पै० < = श्रुत्वा) आछे (प्रा० पै० ४६५।२<अच्छइ)।
ख—कभी कभी द्वित्व और संयुक्त व्यञ्जन को मुख-सुख की दृष्टि से सरल तो कर लेते हैं; परन्तु पूर्व स्वर को दीर्घ नहीं भी करते। द्वित्व या संयुक्त व्यंजन को आसान करने के लिए एक व्यंजन कर देते हैं परन्तु पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ नहीं करते। अपन, कीर्ति २।४८ <अप्पण (= आत्मनः) सबे, कीर्ति २।६० <सब्बे (= सर्वे) वकवार कीर्ति २।८३ (= वक्रद्वार) मछहटा कीर्ति २।१०३ <मच्छहट = (मत्स्यहाटक) रिज कीर्ति० २।११६ (= ऋजु) काअथ कीर्ति २।१२१ <काअत्थ (= कायस्थ) वेसा कीर्ति २।१३५ (वेश्या) आअत ३।५७ (<आयत्त) राउत कीर्ति० ३।१४५ राउत्त (= राजपुत्र) तुरुक २।२११ तुरुक्क (= तुरुक) सकुलिय सं० रा० २३ ख (= सक्कु° = शस्कुलिका) कणयार सं० रा० ६० ख (= कण्णियार = कर्णिकार) वखाणियइ सं० रा० ६५ ख (= वक्खा° — व्याख्यान। इकत्ति सं० रा० ८० ख (= इकत्ति—एकत्र) आलस सं० रा० १०५ (<आलस्य) कपूर सं० रा० ७० क<कर्पूर। संयुत प्रा० पै० ४००।४ (∠संयुक्त)। सहब प्रा० प्रै० २७०।४ (<सोढव्यं)। उलस प्रा० प्रै० ५८१।५ <उल्लास, यहाँ ह्रस्व हो गया है। उवरल प्रा० पै० ८०।७<उर्व्वरितं। अठाइस प्रा० पै० २६६।१ <अट्ठाइस <अष्टाविंशतिः। इंदासण प्रा० पै० २४।२<इन्द्रा-सनं। उपजति, उक्ति व्यक्ति १०।६ (= उत्पद्यन्ते) उडास उक्ति ४६।२७ (= उद्दासति) उवेल उक्ति५२।१५ (= उद्वेलय) काठहू, उक्ति-व्यक्ति १३।२१ <काष्ठम् मगसिरि नेमि० चतु० १४।क <मग्गसिर <मार्गशीर्ष। सामिय नेमि० चतु २०। ग (= स्वामिन्)

सरलीकरण Simpli fication की प्रवृत्ति जो अवहट्ट के इस काल से आरंभ हुई, वह बाद में चलकर आधुनिक आर्य भाषाओं में बहुत ही प्रबल दिखाई पड़ती है। आधुनिक आर्य भाषाओं में प्राकृत के बहु-प्रयुक्त तद्भव शब्द जिनमें द्वित्व के कारण कर्कशता दिखाई पड़ती है सरल या सहज बना लिए गए हैं। पूर्ववर्ती अपभ्रंश की कोई पंक्ति ऐसी न मिलेगी जिसके हर पद में द्वित्व या संयुक्त व्यंजन न दिखाई पड़े। किन्तु बाद में आ० आर्य भाषाओं में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। प्रायः यह सरलीकरण कभी संयुक्त व्यंजन—की जगह एक व्यंजन करके पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ करके होता है। कभी दीर्घ नहीं भी करते और कभी दीर्घ का ह्रस्व तक हो जाता है। प्राकृत पैंगलम् में उल्लास ५८१।५>उलस हो गया है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी इस तरह की प्रवृत्ति मिलती है। भिक्षा>भिक्खा>भीखा>भीख होता है परन्तु भिक्षाकारिक

<शब्द भिक्खा-आरिअ>भीख-आरिअ>भिखारी (४६।२०) होता है। चटर्जी ने इसका कारण वलाघात का परिवर्तन बताया है। ग्राम शब्द का रूप गाँव होता है इसमें स्वर ज्यों का त्यों है किन्तु जब ग्राम-कार का रूप बदलता है तब ग्रामकार> गाँवार>गमार ४१।८ होता है चटर्जी, [उक्ति व्यक्ति स्टडी] ३५§। इस तरह की प्रवृत्ति अवहट्ट में प्रायः दिखाई पड़ती है। इसका प्रभाव हिन्दी की अवधी, ब्रज आदि सभी बोलियों पर दिखाई पड़ता है।

§ २—सरली करण (Simplification) का प्रभाव स्वरों की सानुनासिकता के प्रसंग में भी दिखाई पड़ता है। प्रा० भा० आर्य भाषा काल में अनुस्वार और सानुनासिकता दोनों का तात्पर्य स्वर की सानुनासिकता से था। स्पर्श व्यंजनों में अनुस्वार केवल य र ल व श ष स ह के होने पर ही लगता था किन्तु म० आ० भाषा काल में अनुस्वार देने की प्रवृत्ति बढ़ गई। परवर्ती अपभ्रंश में इस अनुस्वार को भी श्रुतिसुख के लिए ह्रस्व कर देते हैं, इसको क्षतिपूर्ति के लिए ही पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देते हैं।

आँग (२।११० की० <अंग) आँचर (की० २।१४६ <अञ्चल) काँड (की० ४।१६३ <कण्ण <कर्ण) वाँधा (की० ४।४६<बन्ध) बाँकुले (की० ४।४५ <वक्र) लाँघि (की० ४।४८ <लघ्) काँधअ (चर्या० ३ <कंधा < स्कन्ध) साँगा (चर्या ८ <संग) गाँग (उ० व्य० ५।२३ <गंगा) चाँद (वर्णरत्ना० १८ क ∠ चन्द्र) सोंधा (व० र० ५० क ∠सुगन्ध) 'काँट (वर्ण० ७५ ब ∠ कण्टक)। १३ वीं चौदहवीं शती के आस पास इस प्रकार के ह्रस्व सानुनासिकता को प्रवृत्ति बढ़ी। पूर्वी अवहट्ट में यह प्रवृत्ति ज्यादा दिखाई पड़ती हैं; पश्चिमी में अपेक्षाकृत कम; परन्तु ब्रजभाषा आदि वाद की भाषाओं में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। निसाँक आँक, वाँक आदि शब्द ब्रजभाषा में प्रचुर रूप से मिलते हैं। ज्ञानेश्वरी की भाषा में भी इस प्रकार को ह्रस्व सानुनासिकता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। खाँव ∠ स्कंव; खाँडिजे∠ खण्ड, पाँगु ∠ पंगु आदि प्रयोगों के आधार एम० जी पंसे ने उसे ज्ञानेश्वरी की भाषा की एक विशेषता स्वीकार किया है;[१] यह प्रवृत्ति उस काल की प्रायः अधिकांश रचनाओं में मिलती है।

---

१. बुलेटनि आव दि डेकेन कालेज रिसर्च इंस्टि० भाग १० सं० २ पृ० १५५-५६

§३—अकारण सानुनासिकता—आ० आर्य भाषाओं में कई में इस प्रकार की अकारण सानुनासिकता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रवृत्ति का आरम्भ अवहट्ट में ही हो गया था।

उंच्छाह (की० १/२६ ∠ उत्साह) जूंआं (की० २/१४६ ∠ द्यूत) उपाँस (की० ३/११४ ∠ उपवास) काँस (की० २/१०१ ∠ कास्य) वंभण (की० २/१२१ ∠ ब्राह्मण) अंसू (प्रा० पै० १२५/२ ∠ अश्रु) गंते (प्रा० पै० ४३९/३ ∠ गात्र) जपंइ (प्रा० पै० ४१३/३ ∠ जल्पति) बंभु (प्रा० पै० २३/३ ∠ ब्रह्म) माँकडि (उ० व्यक्ति० ४६/९ ∠ मर्कट) दूंजणें (उ० व्य० ४६/९ ∠ दुर्ज्जन) मुंह (उ० व्यक्ति ४४/१४ ∠ मुख) गीवं (उक्ति० ४६/ ९ ∠ ग्रीवा)

परवर्ती भाषाओं ब्रज, अवधी आदि में तो प्रायः अकारण अनुस्वार देने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। रासो आदि में तो चन्द्रविन्दु या अनुस्वार लगाकर संस्कृत का भ्रम फैलाने की भी कोशिश की गई। इस अकारण सानुनासिका की प्रवृत्ति को ज्ञानेश्वरी की भाषा में भी लक्षित किया जा सकता है। अकारण सानुनासिकता के बारे में जूल ब्लाक का विचार है कि यह प्रवृत्ति दीर्घस्वर के बाद र व्यंजन अथवा ऊष्म वर्ण या महाप्राण ओष्ठ्य स्पर्श व्यंजन के आने पर होती है। (ला लाँग मराते § ६९)[१]

§४—संयुक्त स्वर—प्राकृत काल में उद्वृत्त या संप्रयुक्त स्वरों का प्रचार बढ़ जाने से शब्द गत अस्पष्टता को दूर करने के लिए 'य' या 'व' श्रुति का विधान था। परवर्ती अपभ्रंश में इस प्रकार के उद्वृत्त स्वरों का संयुक्त स्वर (Diphthongs) हो जाता था। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में ऐ और औ इन दो संयुक्त स्वरों का प्रयोग विरल है। अपभ्रंश (पूर्ववर्ती) में भी ये संयुक्त स्वर प्रायः नहीं मिलते किन्तु परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट में इनका रूप लक्ष्य किया जा सकता है। प्राकृत अपभ्रंश में अइ अउ का प्रयोग संप्रयुक्त स्वर की तरह होता था बाद में परवर्ती अपभ्रंश में ए ऐ और औ संयुक्त स्वर के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

ऐ—भुववै (की० १/५० ∠ भुववइ ∠ भूपति) वैठाव (की० २/१८४ ∠ उप+विश्) भै (की० ३/८६ ∠ भइ = भूत्वा) बोलै (की० ३/१६२ ∠ बोलति) पूतै (उ० व्यक्ति १०/८ ∠ पूतइ) वैस (उ० व्यक्ति०

---

१. बुलेटिन आव दि डेकन कालेज पृ० १२६

५०/२६ ∠ उपविश्) पै (उक्ति० २०/२१ ∠ पइ ∠ पाचिअ) तूटै (चर्या० ∠ टुटटूइ ∠ त्रुट्) इसी तरह ज्ञानेश्वरी में आपैसा (∠ आत्मा+इदृश) पैजा ∠ प्रतिज्ञा (हिन्दी पैज) आदि रूप मिलते हैं।

औ—चौरा (की० २।२४६<चउवर<चत्वर) कौडि (की० ३।१०१<कउडि<कपर्दिका) भौंह (की० ३।३५<भउँ<भ्रू) दौरि (की० २।१८१<दउरि<द्रव् ?) चौक (उ० व्य० ४१।४<चउक<चतुष्क) लौडी (उ० ३५।१६<लकुटिका) हौं (उक्ति० १६।७<अहकम्) .

एम० जी० पंसे ने ज्ञानेश्वरी में बहुत से ऐसे उदाहरण ढूँढ़े हैं :[2] काँपौलि<कम्पक+उल्लि; चौदा<चतुर्दशः; मौअले<मृदु; बाजौले<वन्धा+उल्ल; राखौडि<रक्षा+उडि

§५—स्वर संकोचनः—(Wovel Contraction)

कहीं कहीं इस प्रकार (Diphthongs) की प्रक्रिया तो नहीं होती किंतु मध्यग क, ग च ज त द, प य व आदि के लोप होने पर संप्रयुक्त स्वरों को सन्धि या समीकरण करने का प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

अन्धार	(कीर्ति० ४।२०)	< अन्ध आर	< अन्धकार	= अ+आ>आ
उपास	(कीर्ति० ३।११४)	< उपआस	< उपवास	= अ+आ>आ
कौसीस	(कीर्ति० २।६८)	< कोअसीस	< कोट शीर्ष	= ओ+अ>औ
ऊंठ	(की० (२।१०५)	< उइट्ठ	< उत्तिष्ठ	= उ+इ>ऊ
मोर	(सन्देश० २१२ क)	< मऊर	< मयूर	= अ+ऊ>ओ
इन्दोअ	(सन्दे० १४३ घ)	< इंदओव	< इन्द्रगोप	= अ+ओ>ओ
सामोर	(सन्दे० ४२ क)	< सम्मउर	< संबपुर	= अ+उ>ओ
चोविह	(प्रा० पैं० ५.७५।६)	< चउविह	< चतुर्विंशति	= अ+इ>ओ

स्वर सङ्कोचन की इस प्रवृत्ति का प्रभाव शब्दों के रूपों के विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। आधुनिक भाषाओं में तद्भव शब्दों में जो एक बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है, उनका मुख्य कारण संप्रयुक्त स्वरों को सङ्कोच देने की यह प्रवृत्ति ही है।

§६—अकारण व्यञ्जन द्वित्व या संयुक्त व्यञ्जन बनाने की प्रवृत्ति भी इस काल की भाषा की एक विशेषता है। चन्द के रासो, तुलसी दास के छप्पयों

---

१. डेकन बुलेटिन १०।२ पृ० १२६.

और इतर कवियों की रचनाओं में व्यञ्जन द्वित्व की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति के मूल में कुछ तो छन्दानुरोध भी कारण हैं कुछ ओज या टंकारा लाने की भावना है। डिंगल की रचनाओं में इस प्रवृत्ति का इतना प्रचार हुआ कि यह भाषा की एक मुख्य विशेषता बन गई।

सुसब्बलो (प्रा० पै० ३०६।३<सु+सवल) सुक्खाणंद (प्रा० पैं० ३११।८<सुखानन्द) सिक्खा (प्रा० पैं० २७०।५<शिखा) ल्लह (प्रा० पैं०२२०।२ <लभ्) विग्गाह (प्रा० पैं० ३६।४<विगाथा) कालिक्का (प्रा० पैं० ३६१।३८ कालिका) दोक्काण (की० २।१६३<दुकान) कम्माण (की० २।१६०<कमान) चिरग्गय (१८१ क० सन्दे०<चिरगत) परब्वस (सन्दे० २१७ ग<परवश) सब्भय (२०८ ग सन्दे०<सभय) तुस्सार (१८४ घ सन्दे०<तुषार)

अवहट्ट की रचनाओं में यह प्रवृत्ति खासतौर से पश्चिमी अवहट्ट में मुख्य रूप से पाई जाती है। और इसका प्रभाव भी पश्चिमी भाषाओं डिंगल, राजस्थानी आदि पर अधिक पड़ा।

§ ७—रूप विचार

अवहट्ट यानी परवर्ती अपभ्रंश तक आते आते अपभ्रंश के संज्ञा पदों में असाधारण परिवर्तन दिखई पड़ता है। विभक्तियां घिस गईं, और उनके स्थान पर परसर्गो का प्रयोग बढ़ा। परसर्गों का प्रयोग प्रायः निर्विभक्तिक पदों के साथ होता है। किन्तु कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर आदि पूर्वी तथा उक्ति व्यक्ति प्रकरण जैसी मध्यदेशी रचना में परसर्गों का प्रयोग निर्विभक्तिक या लुप्त-विभक्तिक पदों के साथ अपेक्षा कृत कम, और विकारी कारकों के साथ ज्यादा हुआ है। कीर्तिलता में 'न्हि' विभक्ति का प्रयोग बहुवचन में होता है (देखिए कीर्ति० भा०§२६) यह विभक्ति प्रायः सभी कारकों के बहुवचन रूपोंमें जुड़ी रहती है और इसके साथ ही परसर्गों का प्रयोग होता है। न्हि, नि की यह विभक्ति परवर्ती भाषाओं अवधी ब्रज आदि में बहुवचन (कारकों) में दिखाई पड़ती है।

युवराजन्हि माँझ (कीर्ति० १।७०) तान्हि करो पुत्र (१।७०) जन्हि के (२।१२६)

युवतिन्ह का उत्कंठा (वर्ण) (३०।ख) वायसन्हि कोलाहल करु (वर्ण० १० २६ ख) उक्ति व्यक्ति में हिं और इं इन दो रूपों का प्रयोग मिलता है (चटर्जी स्टडी § ५६)

सामिहिं सेवक विनव (३६।२७) धूतु गमारहिं अकल (४१।८)

ये रूप अवधी और ब्रज में नि (स्त्रीलिंग) न (पुलिंग) विभक्तियों के साथ दिखाई पड़ते हैं।

बिहरति सखियनि संग (सूर)
गहि गहि बाँह सबनि कर ठाढ़ी (सूर)
कपि चरनन्हि परयौ (तुलसी)
मिटे न जीवन्ह केर कलेसा (तुलसी)

चटर्जी ने इस न्हि>न>नि की व्युत्पति संस्कृत षष्ठी विभक्ति अणाम्>ण+ तृतीया भिः>हि रूप से बताई है। (वर्ण रत्नाकर § २७)

§ ८ निर्विभक्तिक प्रयोग।

अवहट्ट की सबसे बड़ी विशेषता उसका निर्विभक्तिक प्रयोग हैं ऐसे प्रयोग अवधी, ब्रज, आदि में प्रचुरता से मिलते हैं। ये प्रयोग अवहट्ट काल से ही आरंभ हो गए थे। निर्विभक्तिक प्रयोगों के कारण कभी कभी अर्थ का अनर्थ होने की संभावना भी रहती है। इसीलिए प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार ने निर्विभक्तिक प्रयोगों से भरी अवहट्ट भाषा में पूर्वनिपातादि नियमों के अभाव के कारण उत्पन्न गड़बड़ी को दूर करने के लिए अन्वय आदि की यथोचित योजना कर लेने की सलाह दी है। 'अवहट्ट भाषायांय पूर्व निपातादिनियमाभावात् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति बोध्यम् (प्राकृत पैगलम् पृ० ४७८)

कर्ता— ठाकुर ठक भए गेल (कीर्ति)
कपं वियोइणि हीआ (प्रा० पै०)
दूलह दुलाल (उक्ति)
लखन कहा हँसि हमरे जाना (तुलसी)
कुबजा हरि की दासी (सूर)

कर्म— महुअर बुज्झइ कुसुम रस (कीर्ति)
मंजरि तेजइ चूआ (प्राकृ०)
लेख वाच (उक्ति)
कुस सांथरी निहारि सुहाई (तुलसी)
सुफलकसुत दुख दूरि करौ (सूर)

करण— महुअर सद्द मानस मोहिआ (कीर्ति)
पीण पओहर भार लोलइ मोतिअहार (प्रा० पै०)
मोरे कर ताकर वध होई (तुलसी)
तिहि अनुराग वस्य भए ताके (सूर)

सम्बन्ध— सुरराय नयर नाअर रमनि (कीर्ति)
अमुर कुल मद्दणा (प्राकृत)
पुरुष जुगल बल रूप निधाना (तुलसी)
विथा विरह जुर भारी (सूर)

अधिकरण— वप्प वैर निज चित्त धरिअ (कीर्ति)
केअइ धूलि सब्व दिस पसरइ (प्राकृत)
गावि खेत चरि (उक्ति)
आइ राम पद नावहिं माथा (तुलसी)
मथुरा वाजति आज बधाई (सूर)

तुलसी सूर आदि में तो अपादान, सम्प्रदान आदि में भी इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं; परन्तु अवहट्ट या अपभ्रंश में इन कारकों में निर्विभक्तिक पद कम मिलते हैं। सम्बन्ध में भी हम चाहें तो इसे समस्त पद कह लें। इन कारकों में अपेक्षाकृत परसर्गों का प्रयोग अधिक हुआ है और निर्विभक्तिक पदों का कम।

§ ६—चन्द्र बिन्दु का कारक विभक्ति के रूप में प्रयोग

कीर्तिलता में कारक विभक्ति के रूप में चन्द्र विन्दुओं का अक्सर प्रयोग हुआ है (देखिए की० भा० § ३६) विद्यापति पदावली आदि में भी इस प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी की प्रमुख विभाषाओं अवधी-व्रज में तो इसकी प्रचुरता दिखाई पड़ती है। वैसे ये विभक्तियाँ अन्य कारकों में भी पाई जा सकती हैं; परन्तु मूल रूप से इनका प्रयोग कभी कभी कर्म और ज्यादा तर अधिकरण में हुआ है।

कर्म— तुम्हें खग्गो रिउँ दलिअ (कीर्ति)

करण— सत्रु घरँ उपजु डर (कीति)
सेजँ ओलर (उक्ति)
गो वम्मन वधँ दोस न मानथि (कीर्ति)
सेवाँ वइसलि छथि (वर्णा० २/क)
बड़ी बडाई रावरी बाढ़ी गोकुल गावँ (सूर)
गिरिवर गुहाँ पैठि तब जाई (तुलसी)

इन रूपों को देखते हुए लगता है कि प्रयोग प्रायः अधिकरण में ही होता है। चटर्जी इसे अपभ्रंश अहिं (जो संभवतः>अहँ हो गया और बाद में संकोच के

कारण आँ के रूप में) से उत्पन्न मानते हैं। या तो षष्ठी अणाम्>आँ के रूप में आया होगा। (वर्णरत्नाकर § ३५/४) इसकी व्युत्पत्ति कर्म के अम् (ग्रामं) और स्त्रीलिंग रूपों के सप्तमी 'याम्' से भी संभव है।

§ १०—परसर्ग

कर्ता कारक में ब्रजभाषा और खड़ी बोली में 'ने' का प्रयोग होता है। यह विभक्ति है या परसर्ग यह विवाद का विषय हो सकता है; किन्तु खड़ी बोली में इसका प्रयोग परसर्गवत ही होता है। यह परसर्ग कब शुरू हुआ, और इसके प्रारंभिक रूप क्या थे पता नहीं। इसके प्रयोग विकृत रूप में कीर्तिलता में मिलते हैं।

ने<एन्ने<एण = **जेन्ने जाचक जन रंजिअ**

जेन्हे सरण परिहरिअ

जेन्हे अत्थिजन विमन न किज्जिअ

जेन्हे अतत्थ न भणिअ

§ ११ करण कारक—

सन<समम्

सन का परसर्ग अवहट्ट में प्रायः समता सूचक दिखाई पड़ता है।

कायेसर सन राय (कीर्ति)

किन्तु बाद में यह साथ सूचक हो गया और अवधी आदि में यह साथ सूचक ही चलता है।

एहि सन हठि करिहौं पहचानी (तुलसी)

वादहि शूद्र द्विजन्ह सन (तुलसी)

जो कुछ भयौ सो कहिहौं तुम्हसन (सूर)

२—सहुँ>सउँ—परवर्ती अपभ्रंश में केवल सउँ रूप ही नहीं मिलता बल्कि इसके बहुत से विकसित रूप भी मिलते हैं। ऊपर 'सन' की बात कही गई। से, सों, आदि परसर्ग, अवधी, ब्रज आदि में बहुत प्रचलित हैं; किन्तु प्रारम्भिक रूप अवहट्ट में ही मिलने लगते हैं।

माननि जीवन मान सञ्चो (कीर्ति)

दूजने सउँ सब काहू तूट (उक्ति)

हिंसि हिंसि दाम से (कीर्ति)

खोणि खुन्द तास से (कीर्ति)

सों<सओं<सउँ—सो मो सों कहि जात न कैसे (तुलसी)

वैसहिं बात कहति सारथि सौं (सूर)

कलियुग हम स्यूं लड़ पड़ा (कबीर)

एक जु वाझा प्रीत सूं (कबीर)

§१२ सम्प्रदान—

अपभ्रंश में सम्प्रदान में दो प्रमुख परसर्ग होते थे केहिं और रेसि। आश्चर्य है कि इनमें से कोई भी कीर्तिलता में नहीं मिलता। परवर्ती अपभ्रंश में सम्प्रदान कारक में बहुत से नए परसर्गों का प्रयोग हुआ। लागि, कारण, काज ये तीन परसर्ग इस काल की भाषा में प्रयुक्त हुए।

१—लागि—तबे मन करे तेसरा लागि (कीर्ति)

एहि आलि गए लागि (वर्ण)

काहे लागी वब्बर वेलावसि मुज्झ (प्रा० ४६३।२)

केहि लागि रानि रिसानि (तुलसी)

दरसन लागि पूजए नित काम (विद्यापति)

लग या लगे का अर्थ निकट भी होता है जो आज भी पूर्वी बोलियों में बहुत प्रचलित है। यह प्रयोग भी प्राकृत पैंगलम् में दिखाई पड़ता है।

लगगाहि जल वड़ (प्रा० पै० ५४१।२)

२—कारण—लिए के अर्थ में

वीर जुज्झ देक्खह कारण (कीर्ति)

धन्दकार कारण रण जुज्झइ (कीर्ति)

साजन कारण रजाएस भउ (वर्ण)

माखन कारन आरि करत जो (सूर)

कारणि अपने राम (कबीर)

कारण या कारन का प्रयोग भोजपुरी आदि पूर्वी बोलियों में आज भी होता है।

३—काज—लिए के अर्थ में

सरवस उपेक्खिअ अम्ह काज (कीर्ति)

सामि काज संगरे (कीर्ति)

रंचक दधि के काज (सूर)

इन परसर्गों के अलावा प्रति आदि का भी प्रयोग हुआ है। कच्छं>कहँ का भी प्रयोग मिलता है।

§ १३—अपादान

कीर्ति लता में अपादान का प्रसिद्ध परसर्ग सञो, सउँ है जो करण का भी है। किन्तु वहा अपभ्रंश के पुराने प्रत्यय हुन्तउ का रूप 'हुत' मिलता है। एक स्थान पर हुन्ते भी मिलता है।

दुरु हुन्ते आओ बड़ बड़ राआ (कीर्ति)

याआहुतह परखी क वलया भाँग (,,)

इस 'हुँत' का प्रयोग अवधी व्रज आदि में भी पाया जाता है।

सिर हुँत विसहर परे भुइं वारा (जायसी)

मोरि हुँति विनय करब कर जोरि (तुलसी)

§ १४—सम्बन्ध—'करेएँ' का प्रयोग षष्ठी के परसर्ग के रूप में हेम व्याकरण में हुआ है।

जसु केरएँ हुँकारडए मुहहु पडन्ति तृणाइं (४।४२२,१५)

सम्बन्ध के लिए करे और तण इन दो का प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है। अवहट्ट के रचनाओं में केर के प्रायः दो रूप करे और कर मिलते हैं। कै, का, को, की आदि का प्रयोग अवहट्ट में मिलता है। लेकिन अपभ्रंश में नहीं मिलता।

१—केर—

लोचन केरा वल्लहा लच्छी के विसराम (कीर्ति)

तँ दिस केरी राय घर तरुणी हट्ट विकाथि (कीर्ति)

नृपन केरि आसा निसि नासी (तुलसी)

ताकू केरे सूत ज्यों (कबीर)

ऊपर के उदाहरण में केरा, केरी पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों तरह के रूप दिखाई पड़ते हैं, इनमें अग्रवर्ती संज्ञा के समान ही लिंग वचन आदि का निर्धारण होता है।

२—कर < केर

मध्यान्हे करी वेला (कीर्ति)

पृथ्वीचक्र करेओ वस्तु (कीर्ति)

दुजन कर (उक्ति)

जाकरे रूपें (वर्णरत्नाकर)

वाणिएँ करें कवड़ा निखेव (उक्ति)

जेहि कर मन रमु जाहि सन (तुलसी)

३—कइ > कै

पुज आस असवार कइ (कीर्ति)
उथ्थि सिर नवइ सब्ब कइ (कीर्ति)
सभ कै सकति संभु धनु भानी (तुलसी)
जाकैं घर निसि बसे कन्हाई (सूर)
ता साहब कै लागौं साथा (कबीर)

४—क, का, की, के, को—

मानुस क मीसिपीसि (कीर्ति)
वीर पुरिस का रीति (कीर्ति)
एहि दिन्न उद्धार के (कीर्ति)
दान खग्ग को मम्म न (कीर्ति)
मनु मधु कलस स्यामताई की (सूर)
होनिहार का करतार को (कबीर)
सब धरम क टीका (तुलसी)

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि क, का, के, जैसे बहु विकसित परसर्ग तथा 'कर' आदि के बहुत से रूपान्तर पूर्वी अवहट्ट में ज्यादा मिलते हैं। 'कर' वस्तुतः पूर्वी आर्यभाषाओं का महत्वपूर्ण परसर्ग है जिसका प्रयोग कोसल से आसाम ओरिसा तक फैला हुआ है और इसी का परवर्ती रूप 'अर' है जिसका प्रयोग मागधन भाषाओं में आज भी मिलता है। दूसरी ओर को कौं केर के कुछ रूप और विशेषतः की कैं, करी वगैरह रूप व्रज, में ज्यादे मिलते हैं। खड़ी बोली में केवल के, का की का प्रचलन है।

§ १५—अधिकरण—अधिकरण कारक में अपभ्रंश में मज्झे (हेम० ८।४।-४०६) का रूप प्रचलित है। मज्झे का मज्झि और मज्झहे (४।३५०) रूप मिलते हैं! 'माँझ' अवहट्ट का विकसित (मज्झे) रूप है। इसके पाद में मझारी मजु, मझु आदि रूपान्तर हो गए हैं।

१—माझ < मज्झे =

माँझ सङ्गाम भेट हो (कीर्ति)
वाथ वाजु सेना मजु (कीर्ति)
तेन्हुँ माझ (उक्ति)
मन्दिर माँझ भई नभवानी (तुलसी)
कूदि परेउ तब सिंधु मझारी (तुलसी)

२—मै, मँह, माहि—

मण महि (सन्देश रासक)
देवल माहै देहुरी (कबीर)
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि (तुलसी)
राधा मन मैं इहै विचारत (सूर)

३—भीतर—

जाइ मुह भीतर जवहीं (कीर्ति)
आस्थान भीतर इतरलोक (वर्ण)
भित्तरि अप्पा अप्पी लुक्कीआ (प्रा० पै०)
तन भीतर मन मानिआ (कबीर)

४—पर, पै, ऊपर < उप्परि—

चूह ऊपर ढारिआ (कीर्ति)
उप्परि पंचइ मत्त (प्रा०)
नाथ सैल पर कपि पति रहई (तुलसी)
हरि की कृपा जापर होइ (सूर)
मौ पै कहा रिसान्यौ (सूर)

§ १६ सर्वनाम—

किसी भी भाषा के परिवर्तित रूप और विकास का पता विशेषतः सर्वनामों को देखने से मिलता है। अवहट्ट के सर्वनामों को देखने पर जो बात स्पष्टतया मालूम होती है वह है कई बहु-विकसित, कभी कभी तो सर्वथा परिवर्तित सर्व नाम रूपों का प्रयोग।

उत्तम पुरुष

१. हौं—

सुपुरिस कहनी हौं कहहुँ (कीर्ति)
गुण हओं कओ (कीर्ति)
हौं (उक्ति २१-१२)
जानत हौं जिहि गुनहि भरे हौ (सूर)

हौं का प्रयोग अवधी ब्रज आदि में धड़ल्ले से हुआ है। कीर्तिलता का हओ>हौं के रूप में दिखाई पड़ता है।

अवहट्ट की रचनाओं में मइं का प्रयोग हुआ है, उक्ति व्यक्ति में "को मैं

भोजन माँगव (२२-६), का प्रयोग मिलता है। बाद में यही मैं ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का उत्तम पुरुष का सर्वनाम हो गया।

२—मो, मोहि—अपभ्रंश में मो और मोहि का मिलना कठिन है; किन्तु अवहट्ट में मो और मोहि के प्रयोग विरल नहीं हैं।

धरणि सुण रणि वल नाहि मो (कीर्ति)
ते मोञे भलञो निरुढि गए (कीर्ति)
मोहि तहिं के बढ़ा विहति (उक्ति २१-१२)
मञो तोहि लए लाओ (वर्ण ४१ क)
मो को अगम सुगम तुम को (तुलसी)
जो पै मोहि कान्ह जिय भावे (सूर)

३—मोर, मेरा—

मोरेहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ (कीर्ति)
मोर वअन आकराणे करहु (कीर्ति)
मोर लेयी को करिह (उक्ति)
मेरौ मन न धीर धरे (सूर)
मेरा मुझमें कुछ नहीं (कबीर)
चारि पदारथ करतल मोरे (तुलसी)
ऊधौ एक मेरी बात (सूर)

मेरा का प्रयोग खड़ी बोली में ही होता है, मेरहु कीर्तिलता में भी आया है। हमारी (प्रा० पै० ४३५-४) प्रयोग वर्तमान बिल्कुल प्रयोगों की तरह बहु व० का षष्ठी रूप है।

§१७—मध्यम पुरुष—

तुम—अपभ्रंश में तुम के लिए तुम्ह का प्रयोग होता था। बाद में यही तुम्ह 7 तुम हो गया। अवहट्ट में तुम का प्रयोग कम मिलता है प्रायः वहाँ भी तुम्ह ही रूप हैं। किन्तु मध्य पुरुष में तोर, तोहार, तोहि, तोकों आदि रूप परवर्ती अपभ्रंश में दिखाई पड़ते हैं जिनके परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्रयोग नहीं मिलते।

१—तुम ∠ तुम्ह

रखो तुमा (तुम) (प्रा० पै० ३४५-४)

२—तोहि, तोके—त्वां

तोहिं न होअउँ अपहना (कीर्ति)

तोके रोष नहीं (कीर्ति)
तोहि त्वामेव (उक्ति २२-४)
तुहीं पिय भावति नाहीं आन (सूर)
तोहिं मोहिं नाते अनेक (तुलसी)

३—तोर, तोहार, तैं

सो हर तोहर संकट संहर (प्रा० ३५१।२)
तोहार कुड़िया (चर्या)
एन्ह माँझ कवन तोर भाइ (उक्ति ४।३०)
मैं अरु मोर तोर तैं माया (तुलसी)
कही तिहारीबात (सूर)
मधुकर देखि स्याम तन तेरौ (सूर)
मैं तुम्हार अनुचर मुनि राया (तुलसी)

§ १८—दूरवर्ती निश्चय—

खड़ी बोली में दूरवर्ती निश्चय तथा अन्य पुरुष दोनों ही में वह, वे रूप प्रचलित हैं। वह किस शब्द से विकसित हुआ, इस पर मतैक्य नहीं है। चटर्जी इसे वैदिक 'ओ' से विकसित मानते हैं। हेमचन्द्र के 'वड्डा घर ओइ' में कुछ लोग ओ को सर्वनाम और कुछ अव्यय मानते हैं। ओ कीर्तिलता में सर्वनाम की तरह ही प्रयुक्त हुआ है।

ओ परमेसर हर सिर सोहइ (कीर्ति)
ओकरा काजर चाँद कलंक (कीर्ति)
ओके भूमिपालि राखि (वर्ण २६ ख)
ससी ओ जणी आ (प्रा० ३४८।१)
ओहु खास दरबार (कीर्ति)

इसी ओहु से वह का विकास हुआ है। ओ रूप पुरानी व्रज वगैरह में नहीं मिलते हैं वह, वे आदि रूप वहाँ अवश्य मिलते हैं। उसका सम्बन्ध ओ से चाहें तो जोड़ सकते हैं।

§ १९—निकटवर्ती निश्चय—

यह ∠ एह ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ (कीर्ति)
इन ∠ एन्ह राय चरित्त रसाल एहु (कीर्ति)
विश्वकर्मा एही कार्य छल (कीर्ति)

को ए काह करत (उक्ति)
एन्ह माँझ (उक्ति)
एहि आलिंगए लागि (वर्ण)
एन्हिकाँके रसायसु भउ (वर्ण)
अमिअ एहू (प्रा० १६७-६)
एहि कर फल पुनि विषय विरागा (तुलसी)
ए कीरीट दसकन्धर केरे (तुलसी)
स्याम को यहै परेखौ आवे (सूर)
यै अवगुन सुन हरि के (सूर)

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ओह > वह और एह > यह के रूप में विकसित हुए। इन (वहु० व०) का विकास अवहट्ट के एन्ह रूप से संभव है।

§२०—निज वाचक—

१—अपना < अप्पणउँ (हेम)

अपने दोष ससंक (कीर्ति)
अपनेहु साठे सम्पलहु (कीर्ति)
अपना उपदर्शि गयि (वर्ण ६१ ख)
आपणे आलाप (उक्ति ४४-२८)
तब आपनु प्रभाव विस्तारा (तुलसी)
अपने स्वारथ के सब कोऊ (सूर)
अपनी गैयां घेरि लै (सूर)

२—आप < आत्मन

जाव ण अप्पं णिदंसेइ (प्रा० १०७।१)
अप्पह णिहय किं पिभणे (सन्देश० ६५)
आपु कहावति बड़ी सयानी (सूर)
आपु कदम चढ़ि देखत स्याम (सूर)

आप का प्रयोग खड़ीबोली और ब्रजभाषा में आदरार्थ किया जाता है। और इसका प्रयोग पुरुषवाची सर्वनाम के रूप में होता है। इस प्रकार के प्रयोग भी अवहट्ट में मिलते हैं।

§२१—सार्वनामिक विशेषणों 'अइस' आदि के रूपों के भी परिवर्तन और

उनके विकास पर ध्यान देने पर अवहट्ट में बहुत सी बातें नई मिलेगी। ऐसा, अस, आदि रूप परवर्ती अपभ्रंश में मिलने लगते हैं। उसी प्रकार इतना, कितना आदि रूपों में भी बहुत कुछ विशेपताएँ लक्ष्य की जा सकती है। संख्या-वाचक विशेषणों में तीसरा, दूजा आदि रूप मिलते हैं जो पूर्ववर्ती अपभ्रंश में नहीं मिलते। इस प्रसंग में कीर्तिलता के उदाहरण आगे दिए हुए हैं (देखिए कीर्ति० भाषा० §५४-५६)

§२२—क्रिया।

जब हम अवहट्ट की क्रियाओं पर विचार करते हैं तो यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं होता कि क्रियाओं की दृष्टि से अवहट्ट में आधुनिक आर्यभाषाओं की क्रियाओं का ढाँचा स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संस्कृत क्रियाओं के विधानों से स्वच्छन्द होने के लिए प्राकृत काल में ही ढिलाई बरती जाने लगी थी। गणों का विधान पाली काल में आते आते सरल हो गया और कई गणों की क्रियाओं में रूप-साम्य दिखाई पड़ने लगा। दस गणों में कम से कम पाँच के रूप तो बहुत कुछ समान दिखाई पड़ते हैं। प्राकृतों में सरलता की इस प्रवृत्ति को और बढ़ाव मिला। फिर भी संस्कृत क्रियाओं की संयोगात्मक प्रवृत्ति से प्राकृत क्रियायें मुक्त नहीं कही जा सकतीं। अपभ्रश में आते आते क्रियाओं के रूपों में आश्चर्यजनक परिवर्तन परिलक्षित होने लगा। संयोगात्मक क्रिया-रूप वियोगात्मक हुए। हिन्दी क्रियाओं में पाई जाने वाली बहुत सी प्रवृत्तियाँ परवर्ती अपभ्रंश काल में पूर्ण विकास पा चुकी थीं। कृदन्तों के सहारे क्रिया निर्माण की पद्धति अपभ्रंश काल में ही शुरू हुई; परन्तु उसके रूपों में इतना परिवर्तन और विकास नहीं दिखाई पड़ता। अवहट्ट में संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बढ़ा। कृदन्त और सहायक क्रियाओं के संयोग से भावों को प्रकट करने का ढंग हिन्दी में इतने विचित्र रूप से विकसित हैं; कि कुछ विद्वानों को इसमें अन्य भाषा-परिवारों की छाप दिखाई पड़ती है; किन्तु यदि इसके विकास क्रम पर ध्यान दें तो स्पष्टतः इसके बीज (संयुक्त कालों के) अवहट्ट में ही दिखाई पड़ने लगे थे। हम अवहट्ट की विशेषताओं में केवल उन्हीं रूपों पर विचार करेंगे जो परिनिष्ठित अपभ्रंश में नहीं दिखाई पड़ते, या बीज रूप में दिखाई पड़ते हैं जिनमें विकास इस काल में हुआ।

§२३—वर्तमान काल—

अवहट्ट में वर्तमान काल में तीन प्रकार के रूपों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

१—प्राचीन तिङन्त-तद्भव रूप—जिनमें अन्तिम संप्रयुक्त स्वर संयुक्त हो जाते हैं।

बोलै>बोलइ>बोलति

२—वर्तमान कृदन्तों का वर्तमान काल की क्रिया की तरह प्रयोग, वोलत<वोलन्त, वोलन्ते

३—मूल धातु के रूप में प्रयोग जिसका रूप अकारान्त होता है। शायद यह अइ>अ के रूप में विकसित हो।

पष्व न पालै पउवा	(कीर्ति)
अंग न राखै राउ	(कीर्ति)
जो आपन चाहै कल्याना	(तुलसी)
दारुन दुख उपजै	(तुलसी)
मेरो मन न धीर धरै	(सूर)

कहीं कहीं अइ 7 अएँ के रूप में मिलता है।

विनु कारण हि कोहाएँ	(कीर्ति)
कुम्भ पिट्ठि कंपए धूलि सूर झंपए	(प्रा० पै०)
रहे तहाँ वहु भट रखवारे	(तुलसी)
कुछ मारेसि कछु जाइ पुकारे	(तुलसी)
रुपकौं नृप केहि हेत वुलाए	(सूर)

यद्यपि नीचे के (सूर तुलसी) के उदाहरणों में क्रिया भूतार्थ द्योतक लगती है पर विकास की दृष्टि से यह अवस्था महत्त्व की वस्तु है।

२—वर्तमान काल में कृदन्त रूपों का प्रयोग होता है। वर्तमान आर्य भाषाओं में वर्तमान काल में (हिन्दी-गुजराती आदि में) कृदन्त रूपों का प्रयोग होता है। आज के ता वाले रूप मध्यकाल के अन्तः वाले रूपों से विकसित हैं। ये रूप धातु 'अन्त' (शतृ प्रत्यायन्त) लगाने से बनते हैं। इनके दो रूप दिखाई पड़ते हैं एक त या ता के साथ दूसरे 'अन्त' वाले। वर्तमान में दोनों का ही प्रयोग होता है।

क—

मधुर मेघ जिमि जिमि गाजन्ते	(थूलि)
पंच वाण निज कुसुम वाण तिमि तिमि साजन्ते	(थूलि)
कितेवा पढ़न्ता	(कीर्ति)

कलीमा कहन्ता (कीर्ति)
पुहवी पाला आवन्ता , वरिसहु भेट्ट न
पावन्ता (कीर्ति)
उद्धा हेरन्ता (प्रा० पै० ५०७/४)
मज्झे तिण्णि पलन्त प्रा० पै० (५६१/२)
संत सुखी विचरन्त मही (तुलसी)
ज्यों ज्यों नर निधरक फिरे त्यों त्यों हाल
हसन्त (कबीर)

ख—

कइसे लागत आँचर वतास (कीर्ति)
मिलअ महासुख साँगा (चर्या ८)
बाँटत को इहाँ काह करत (उक्ति ३०/१२)
मोर अभाग जिआवत ओही (तुलसी)
मनहु जरे पर लोन लगावत (तुलसी)
भुज फरकत, अँगिया तरकति (सूर)

न्त और न्ते वाले रूपों में अधिकांश वहुवचन के रूप हैं। जबकि त वाले रूप ज्यादातर एक वचन के हैं। त वाले रूपों में स्त्रीलिंग का सूचक 'इ' प्रत्यय भी लगता है।

ग—तिङन्त (वर्तमान एक वचन अन्य पुरुष) के तद्भव रूप अकारान्त होते हैं।

कंप विओइणि हीआ (प्रा० पै०)
महुमास पंचम गाव (प्रा० पै० ८७)
हिन्दू बोलि दुरहि निकार (कीर्ति)
देवहि नम, प्रजा पीड (उक्ति)
काँचन कलश छाज (कीर्ति)
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा (तुलसी)
पुलकित तन मुख आव न वचना (तुलसी)

इस प्रकार के प्रयोग अवधी भाषा में बहुल रूप से प्राप्त होते हैं। उक्ति व्यक्ति की भाषा में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। एइ और अउ के उद्वृत्त स्वर, जो सामान्य वर्तमान के अन्य पुरुष एक वचन की क्रिया में दिखाई पड़ते हैं पुरानी कोसली में एक विचित्र प्रकार का रूपान्तर उपस्थित करते हैं।

अइ>अ। अइ का अ के रूप में परिवर्तन सम्भवत कठिन है। फिर भी यह पुरानी कोसली का बहु प्रचलित प्रयोग है। इसमें प्रायः अन्त्य 'इ' का ह्रास प्रतीत होता है। ईश्वरदास, जायसी और तुलसी की रचनाओं में प्रायः दोनों—अ और अइ तया ऐ साथ ही—हिं भी मिलते हैं। [चटर्जी उक्ति स्टडी §३६] चटर्जी ने इस अइ>अ के विकास के लिए क्रम भी बताया है।

चलइ>चलऍ>चलॅ>चल आदि।

कई रूपों को देख कर मुझे लगता है कि यह 'त' वाला (शतृ प्रत्यान्त) कृदन्त रूप है जो त के लोप के कारण अकारान्त दिखाई पड़ता है। क्योंकि इसका प्रयोग भूतकाल में भी होता है।

रहा न जोब्बन आव बुढ़ापा (जायसी)

इस पंक्ति में रहा स्पष्टतः भूतकाल द्योतक है, अगिले खण्ड में प्रयुक्त क्रिया 'आव' का वर्तमान में 'आवइ' बनाना उचित नहीं प्रतीत होता।

काहु होअ अइसनेओ आस (कीर्तिलता)

यहाँ अकारान्त स्पष्ट होने पर भी क्रिया वर्तमान की ही है। जब की चटर्जी प्रायः 'इ' का लोप मानते हैं।

§२४—भूतकृदन्त में परिवर्तन

वर्तमान हिन्दी में तथा पछाहीं बोलियों में भूतकाल में प्रायः दो रूप प्राप्त होते हैं :

१— आ—अन्त वाले रूप गया, कहा, थका आदि

२— ओ—अन्त वाले रूप (ब्रज) चल्यो, कह्यो आदि।

अपभ्रंश में प्रायः इअ वाले रूप, जो संस्कृत< इत (क्त प्रत्ययान्त) से विकसित हुआ, प्राप्त होते हैं।

हिन्दी—करा < प्रा० करिओ < सं० कृतः

ब्रज—कर्‌यो < प्रा० करिओ < सं० कृतः

परवर्ती अपभ्रंश में अपभ्रंश और हिन्दी की बीच की कड़ी मिलती है।

थका < थक्किआ < थक्किउ

अंवर मंडल पूरीआ (कीर्ति०)

पअ भरे पाथर चूरीआ (कीर्ति)

दिअबर हार पआलिआ पुणवि तहट्ठिअ करिआ (प्रा० पै० ४०१।१)

चान्दन क मूल इन्धन बिका (कीर्ति)

धुव कहिआ (प्रा० पै०)

तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा (तुलसी)

अपभ्रंश में भूत कालिक कृदन्तज क्रियाओं में स्त्रीलिंग का कोई खास विधान न था। किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में स्त्रीलिंग का ध्यान रखा गया हिन्दी में भी गया का गयी होता है।

लगो जही मही कही (प्रा० पै० ३४४।३)

कही सहित अभिमान अभागे (तुलसी)

२—भूत कृदन्त के रूपों में अन्तिम उद्वृत्त स्वर अउ<ओ हो जाता है और इस प्रकार ब्रजभाषा के भूतकालिक रूपों के सदृश क्रियायें दिखाई पड़ती हैं।

आओ पाउस कीलंताए (प्रा० पै० ५१६ । ४)

तह वे पओहर जाणिओ (प्रा० पै० ४००।१)

हंस काग को संग भयौ (सूर)

दूर गयौ ब्रज को रखवारो (सूर)

३—पूर्वी अवहट्ट की रचनाओं में ल विभक्ति का प्रयोग दिखाई पड़ता है। बाद में पूर्वी भाषाओं में प्रायः सभी में ल का प्रयोग बहु प्रचलित हो गया। कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, चर्यागीत, में ल का प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्ध में विस्तार से कीर्तिलता की भाषा वाले भाग में विचार किया गया है। (की० भा० § ६५)

§२५—दुहरी या (संयुक्त) पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग—

अवधी ब्रज आदि में दुहरी पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग होता है। एक तो पूर्वसमाप्त कार्य की गहनता या पूर्णता सूचित करता है एक उसका नैरन्तर्य सूचित करता है। हिन्दी में भी 'पहने हुए' पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग होता है। ऐसे रूप अवहट्ट में मिलने लगते हैं।

पाछे पयदा ले ले भम (कीर्ति)

आपहिं रहि रहि आवन्ता (कीर्ति)

विरह तपाइ तपाइ (कबीर)

हँसि हँसि कन्त न पाइए (कबीर)

'सन्देस रासक' में श्री भायाणी ने इस प्रकार का एक प्रयोग ढूँढ़ा है।

विरहहुयासि दहेविकरि आसा जल सिंचेइ (१०८।ख)

इन्होंने इस दहेवि करि का सम्बन्ध वर्तमान कह कर, जा कर के कर से जोड़ा है।

रैयत भेले (होकर) जीव रह	(कीर्ति)
गहि गहि बाँह सबनि कर ठाढ़ी	(सूर)
भई जुरि कै (जुड़कर) खड़ी	(सूर)
तहह गंध सज्जा किआ	(प्रा० पै० ५०१ । २)

उक्तिव्यक्ति में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

लइ लइ पला	(१८।११ उक्ति)
मारि मारि खा	(११।१८ उक्ति)

§ २६—संयुक्तक्रिया

संयुक्त क्रियाओं का आधुनिक आर्य भाषाओं में अपना विशेष महत्त्व है। वैदिक और लौकिक दोनों ही संस्कृतों में उपसर्गों के प्रयोगों की छूट थी अतः वहाँ क्रियाओं को बिना संयुक्त किए भी काम चल जाता था। उपसर्गों के प्रयोग से ही वहाँ धात्वर्थों में अन्तर हो जाता था किन्तु आधुनिक आर्य भाषा काल में उपसर्गों का प्रयोग नहीं होता अतः यहाँ संयुक्त क्रियाओं के बिना काम नहीं चल सकता। प्राचीन संस्कृत में कहीं कहीं संयुक्त क्रियाओं जैसे रूप मिलते हैं, ब्राह्मणों में वरयां चकार, गमयां चकार आदि रूप मिलते हैं, किन्तु बाद में इस तरह के प्रयोगों का अभाव है। प्राकृत, यहाँ तक की अपभ्रंश काल में भी इस तरह की क्रियाओं का विकास नहीं दिखाई पड़ता। अवहट्ट काल से इस प्रवृत्ति का आरंभ होता है।

किनइते पावथि	(२/११४ कीर्ति)
वसन पाञे ल	(कीर्ति० २/६२)
खाए ले भांग क गुण्डा	(कीर्ति २/१७४)
सैच्चान खेदि खा	(कीर्ति ४/१३३)
पुनि उट्ठइ संभलि	(प्रा० पै० १८०/५)
भए गेलाह	(वर्ण० १८ क)
तुम अति कासौं कहत बनाइ	(सूर)
उधौ कछुक समुझि परी	(सूर)
तिन्हहि अभय कर पूछेसि जाई	(तुलसी)
तेज न सहि सक सो फिर आवा	(तुलसी)
हम देख आए	(खड़ी)

§ २७—संयुक्त काल

१—वर्तमान कालिक कृदन्त और सहायक क्रियाओं से बने हुए संयुक्त काल : Present Progressive

खिसियाय खाण है	(कीर्तिलता)
आँखि देखत आछ	(उक्ति)
भोजन करत आछ	(उक्ति)
मयूर चरइत अछ	(वर्ण)
स्याम करत हैं मन की चोरी	(सूर)
राजत हैं अतिसय रँग भीने	(सूर)

२—वर्तमान कृदन्त+सहायक किया का भूतकालिक रूप (Past Progressive)

आवन्त हुअ हिन्दू दल	कीर्ति)
को तहाँ जवंत आछ=आसीत	(उक्ति २१/७)
स्याम नाम चकृत भई	(सूर)
प्रमदा अति हरषित भई सुनि बात	(सूर)

§ २८—सहायक क्रिया—

है, अछ—हिन्दी में आजकल जो 'है' सहायक क्रिया का रूप है, उसका विकास अस्ति 7 असति 7 अहइ 7 अहै 7 है से माना जाता है। इसके साथ ही अवहट्ट की रचनाओं में अछ या अछै रूप भी मिलता है। अपभ्रंश में अच्छइ रूप मिलता है, इसका विकास लोग संभावित रूप अच्छति से मानते हैं। ऊपर संयुक्त काल के प्रसंग में हैं, अछ के रूप उद्धृत किए गए हैं। ब्रज भाषा में अहि रूप काफी प्रचलित है।

भूतकाल में छल, हुअ, भई, भए आदि रूप मिलते हैं।

§ २९ वाक्य विन्यास—

१—अवहट्ट वाक्य विन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता। कारकों में सामान्य रूप से विभक्तियों का प्रयोग लुप्त दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के प्रयोगों के आधिक्य के कारण वाक्य में शब्दों के संगठन पर भी प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में पीछे विचार किया गया है। अपभ्रंश में लुप्तविभक्तिक प्रयोग नहीं मिलते।

तणहँ तइज्जी भंगि नवि ते अवडयडि वसन्ति
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति

जइ तहँ तुट्टइ नेहडा मइँ सहुँ न वि तिल हार
तं किहें वङ्कहि लोअणेहि जोइज्जउँ सय वार

२—अपभ्रंश के ऊपर के इन दो दोहों में शायद ही किसी कारक में लुप्तविभक्तिक संज्ञा शब्द दिखाई पड़ते हैं; किन्तु अवहट्ट में इनका प्रचुर प्रयोग मिलेगा। इस प्रकार के प्रयोगों के कारण वाक्य विन्यास की दूसरी विशेषता का विकास हुआ। वाक्य में पदों के स्थान पर भी महत्व दिया गया। हिन्दी वाक्यविन्यास को तरह कर्ता+कर्म और क्रिया के इस क्रम का बीजारोपण हुआ। संस्कृत भाषा में, प्राकृतों तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश में इस प्रकार के वाक्य गठन का रूप कम से कम दिखाई पड़ता है।

वरं कन्या तुलव (उक्ति) गुरु सीसन्ह ताड, केवट नाव घटाव।
अहिर गोरू वाग मेलव (उक्ति) मेघु नदी बढ़ाव। (उक्ति)
दास गोसाञुनि गहिअ (कीर्ति) भाहु भैसुर क सोफ जाहि (कीर्ति) अधपर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य छल। काञ्चन कलश छाज। (कीर्ति)

३—संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग के कारण भी वाक्य गठन के स्वरूप में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। संयुक्त क्रियाओं पर पीछे विचार किया जा चुका है, उन्हें देखने से मालूम होगा कि संयुक्त क्रियाओं के द्वारा नए प्रकार के क्रियात्मक भावों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति इसी काल में शुरू हुई।

§ ३० शब्द समूह—

परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं को देखने से मालूम होता है कि अवहट्ट शब्द समूह का अपभ्रश से तीन कारणों से भिन्न दिखाई पड़ता है।

१—विदेशी शब्दों का प्रयोग—कीर्तिलता, समररास, रणमल्लछन्द आदि रचनाओं में जहाँ मुसलमानी सम्पर्क काव्य की घटनाओं में दिखाई पड़ता है, वहाँ तो अरबी फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ ही है, बहुत से शब्द इतने साधारण प्रयोगों में आ गए हैं, जिनको अन्यत्र भी लक्ष्य किया जा सकता है। वर्णरत्नाकर में नीक, तुर्क, तहसील, नौवति, हुद्दादार<ओहदादार, आदि शब्द मिलते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण के आधार पर चटर्जी का विचार है कि १२ वीं शती तक गंगा की घाटी की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग कम दिखाई पड़ता है; पर उक्तिव्यक्ति अव्वल तो व्याकरण ग्रंथ है, दूसरे उसमें तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का ज़िक्र कम से कम हुआ है, इसलिए उसकी भाषा के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि विदेशी शब्दों का प्रयोग प्रचलित नहीं था।

२—तत्सम शब्दों का, ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के कारण प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगा, अवहट्ट के शब्द समूह में यह नया मोड़ है। इसके कारण प्राकृत तद्भव रूपों की गड़बड़ी भी दूर हो गई। तत्सम का प्रभाव न केवल शब्द रूपों पर बल्कि क्रिया में धातुओं पर भी दिखाई पड़ता है।

३—देशी शब्दों के प्रयोग की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार हमने देखा कि अवहट्ट भाषा अपभ्रंश के प्रभाव को सुरक्षित रखते हुए भी बिल्कुल बदली हुई मालूम होती है। उसमें बहुत से नवीन प्रकार के व्याकरणिक प्रयोग और विकास दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के विकास के भाषा शास्त्रीय अध्ययन के लिए पूर्ववर्ती अपभ्रंश की अपेक्षा अवहट्ट ज्यादा महत्त्व की वस्तु है।

कीर्तिलता की भाषा

कीर्तिलता भारतीय ऐतिहासिक काव्यों की मणिमाला का सुमेरु है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक काव्यों का उदय एक अकस्मात् घटना है। अपने छोटे से विकास-काल में इस जाति के साहित्य ने भारतीय वातावरण के भीतर एक ऐसी शैली का निर्माण किया जो अपनी अनेक कथानक रूढ़ियों, यथार्थ और कल्पनाजन्य घटनाओं के विचित्र मणिकांचन संयोग तथा नाना लोक चित्तोद्भूत छन्दों की झंकार से पूरे वाङमय में अपने तरह की अकेली है। कीर्तिलता इस शैली की चरम परिणति है। इसमें कथानक-रूढ़ियों और कल्पना के रंगीन चित्रों की कमी नहीं; पर इनके भीतर यथार्थ इतने प्रौढ़ रूप से अनुस्यूत है कि इतिहास की तथ्यात्मक घटनाओं के चढ़ाव उतार में भी कोई फर्क नहीं पड़ता।

यह तो साहित्यिक महत्व की बात है। कीर्तिलता की भाषा इससे कम महत्वपूर्ण वस्तु नहीं। परवर्ती अपभ्रंश स्वयं ही एक महत्वपूर्ण कड़ी है जो मध्यकालीन आर्य और आधुनिक आर्य भाषाओं को विकास-क्रम में संबद्ध करती है। कीर्तिलता परवर्ती अपभ्रंश के स्वरूप को स्पष्ट करने का सर्वोत्तम आधार है। पिछले खंड में अवहट्ट की जिन प्रवृत्तियों का आकलन किया गया है, इनको और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए कीर्तिलता की भाषा का विवेचन अपेक्षित है। कीर्तिलता की भाषा विवेचन से बहुत से ऐसे तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं जो आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास सम्बन्धी गुत्थियों का सुलझाव दे सकते हैं।

अनुलेखन पद्धति (Orthography)

"भारतीय अनुलेखन-पद्धति की परम्परा सदा रूढ़ रही है। प्रायः अपने समय की प्रचलित भाषा में न लिखकर ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से आर्ष और प्राचीनतर बनाने का प्रयत्न होता जा रहा है।[1] इस प्रकार के अनुलेखन के दो कारण हो सकते हैं। या तो लेखक स्वयं अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के कारण ऐसा करते हों या लेखक के बाद की लिखी गई प्रतियों में तत्कालीन भाषा का ख्याल न करके लिपिकार अपने समय की भाषा का प्रभाव लाद देता

१—चटर्जी, इंडोआर्यन एंड हिन्दी, पृ० ८५

हो। अपभ्रंश के हस्तलेखों में प्रायः ऐसी गड़बड़ी हुई है। सन्देश रासक की अनुलेखन पद्धति पर विचार करते हुए श्री भायाणी ने अपभ्रंश-लेखों की कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है।[१]

१—अनुनासिक निर्धारण में गड़बड़ी—केवल गणना द्वारा ही यह निश्चित किया जा सकता है कि वस्तुतः कौन सी प्रवृत्ति सही और प्रधान है और कौन सी गौण। उदाहरण के लिए तृतीया और सप्तमी के एक वचन में कहीं—हि मिलता है तो कहीं—हिं। इसी तरह षष्ठी एक वचन में कहीं—हँ मिलेगा तो कहीं—ह।

२—इ और य का परस्पर-विनिमय—यह दूसरी समस्या है। य और इ के इस विपर्यय के कारण बहुत से रूपों के विकास के क्रम-निर्धारण में कठिनाई होती है। इस तरह का विपयर्य दोहा कोश, चर्यागीतों और प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी हुआ है। प्रा० प० रा० के लिए देखें तेसीतरी O W R § ४-५।

३—'य' श्रुति के निर्धारण में अनिश्चितता।

४—ण और न के प्रयोगों में भी कोई नियम नहीं चलता

५—व और ब के अन्तर पर ध्यान नहीं दिया जाता। दोनों के लिए प्रायः व का प्रयोग कर दिया जाता है।

कीर्तिलता भी इन दोषों से मुक्त नहीं है। उसमें भाषा को ज्यादा आर्ष और प्राचीन बनाने का मोह भी दिखाई पड़ता है और उपर्युक्त पाँच प्रकार की त्रुटियो में भी कई पाई जाती हैं।

§१—हि और-हिं ये दोनों तरह के प्रयोग कीर्तिलता में मिलते हैं। असंझहि (२।२५३) कलशहि (२।८६) तोषारहि (२।१७६) विब्बट्टवट्टहि (२।८४) आदि पदों में –हि के साथ अनुनासिक का प्रयोग नहीं हुआ है। साथ ही करवालहीं (३।७४) कव्वहीं (२।६१) कालहिं (३।५१) खेत्तहिं (१।१) ठट्टहिं (२।६४) ठामहिं (२।२३६) सहसहिं (४।८५) आदि पदों में—हि के साथ अनुनासिक का प्रयोग दिखाई पड़ता है। न केवल कारक-विभक्तियों (तृतीया-सप्तमी) के रूपों में ही अनुनासिक की अनियमितता पाई जाती है बल्कि क्रिया के रूपों में भी इसी प्रकार की ढिलाई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के प्रयोगों के लिए

१—सन्देश रासक, व्याकरण § १–१४

लिपिकार का भी हाथ होता है, जिसके निकट अनुनासिक की एक रूपता कोई मूल्य नहीं रखती।

§२—कीर्तिलता में न और ण के प्रयोगों में कोई नियम नहीं चलता। एक ही शब्द दोनों रूपों में लिखे पाये जाते हैं।

न (२।१६) ण (२।५१) नअर (२।१२३ <नगर) णअर (२।१२३) ये दोनों शब्द तो एक ही पंक्ति में मिलते हैं। नअ (१।६५ <नय) णय (३।१४३)

निअ (२।२३६<निज) णिअ (१।४०); निच्चिन्ते (२।४०<निश्चिन्तेण) णिच्चइ (निश्चय) (१।१२ <नित्य+एव); नाह (१।२५ <नाथ) णाह (१।४४)। फिर भी इन रूपों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि न लिखने की प्रवृत्ति कुछ अधिक मालूम होती है। मध्यग न, ण के रूपों में भी इस प्रकार की गड़बड़ी मिलती है।

§३—व और ब दोनों रूपो के अन्तर को सुरक्षित रखने का कोई प्रयत्न नहीं मालूम होता। वव्वरा (२।६० <बर्वर) वम्भ (४।१२६ <ब्रह्म) वन्धव (४।२५७ <बान्धव) बअन (४।४५ <वचन; वलभद्द (२।५१ <बलभद्र); वमइ (१।६ <बमति) वणिजार (२।११३ <वाणिज्यकार) वटुआ (२।२०२ <वटुक) बकबार (२।८३ <वक्रद्वार)

बाजू (२।१६४ <बाज़ू—फा०) वहुल (३।१०१ <बहुल) आदि शब्दों को देखने से मालूम कहीं व का ठीक व है कहीं ब का व हो गया है। प्रायः व ज्यादा हैं। यह अन्तर कर सकना तो नितान्त असंभव है कि ब और व का अनुपात क्या है। इसीलिए इन शब्दों को केवल व से ही आरंभ या न कर शब्द सूची में इन्हें एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है।

ध्वनि विचार—(Phonology)

§४ स्वर—साधारण रूप से निम्नस्वरों का प्रयोग मिलता है

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ

§५—इन स्वरों के अलावा ह्रस्व एॅ और ह्रस्व ओॅ के प्रयोग भी मिलते हैं। अपभ्रंश काल में ह्रस्व एॅ और ओॅ के प्रयोग अधिकता से मिलते हैं। कीर्तिलता ने इन प्रयोगों को सुरक्षित रक्खा है।

अइसेॅ ओ जसु परतापेॅ रह (२।११२)। अति गइ सुमरि खोॅदाएॅ खाएॅ

(२।१७४) **खन ऍक मन दऍ सुनओॅ विअक्खन (२।१५४) एक्क धम्मे अओॅका उपहास (२।१६३) किछु वोलओॅ तुरुकाणओॅ लक्खन (२।१५५)।**
इस प्रकार के ह्रस्व ऍ और ओॅ के प्रयोग कीर्तिलता में हर पृष्ठ पर पर्याप्तमात्रा में मिल जायेंगे।

§ ६—**संयुक्त स्वर**—इन स्वरों के अतिरिक्त कीर्तिलता की भाषा में दो संयुक्त स्वर (Diphthongs) भी पाये जाते हैं; ऐ, औ। प्राचीन आर्यभाषा में ये दोनों संयुक्त स्वर प्रचुरता से मिलते थे किन्तु मध्यकालीन आर्यभाषा काल में इनके रूप में परिवर्तन आ गया। मध्यकालीन युग में केवल ए और ओ ही मिलते हैं। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में संप्रयुक्त स्वरों का प्रयोग बढ़ने लगा। बहुत से शब्दों में तो श्रुति (य, व) का प्रयोग करके इस समस्या को सहल बनाने की कोशिश की गई। वहाँ अइ, अउ जैसे संप्रयुक्त स्वरों का प्रयोग विरल नहीं है। कीर्तिलता की भाषा में अइ और अउ तो मिलते ही हैं। इनके साथ ही, ऐ और औ दो संयुक्त स्वरों का प्रयोग भी मिलता है। कीर्तिलता में ऐ के प्रयोगों के उदाहरण इस प्रकार हैं।

भुववै (१।५० = भुववइ <भूपति, भुजपति); वैठाव (२।१८४ = उप + विश्) रहै (२।१८४ = रहइ <रहति) तैसना (३।१२२ = <तादृश्) वोलै (३।१६२ <वोलइ) ऐसो (४।१०५ <अइस) पै (२।१८५ = पइ) पैठि (२।६६ <प्र + √विश्) भै (३।८६ <भइ = भूत्वा) लै (२।१८४ = लइ = लेकर) भैसुर (४।२४७ <भातृश्वसुर) औ के प्रयोगों वाले उदाहरण इस प्रकार हैं :

करौ (१।७७ = करउ <करोतु) चौरा (२।२४६ = चउवर <चत्वर) तौन (३।२३ = तअन >तउन) तौ (३।२३ = तउ <तोऽपि) औका (२।१२६ = अओका <अपरक) कौडि (३।१०१ < कउड्डि <कपर्दिका) कौसीस (२।६८ < कोअसीस <कोट्टशीर्ष ?) चौहट्ट (२।८८ चउहट्ट = <चतुःहाटक) जौ (२।१८५ = जउ) दौरि (२।१८१ = दउरि = दौड़कर) भौ (३।३७ <भउ <भूतः) भौंह ३।३५ <भँउ <भ्रू) हौं (१।३६ <हँउ <अहकम्)

§ ७—**संप्रयुक्त स्वर**—संयुक्त स्वरों के साथ-साथ ही बहुत तरह के संप्रयुक्त स्वरों का प्रयोग भी मिलता है। प्राकृत काल में कई स्वरों का साथ साथ

प्रयोग होता था। ये स्वर चूँकि संयुक्त नहीं हैं इसलिए इन्हें यहाँ संप्रयुक्त कहा गया है। संप्रयुक्त यानी एक साथ प्रयुक्त स्वर। नीचे इस तरह के संप्रयुक्त स्वरों के उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं।

१—अइ = दूसिहइ (१।४) पसंसइ (१।४) बोलइ (१।५) लग्गइ (२।५३) होसइ (१।१५) अइस (२।५२) अइसनेओ (३।५४) कइ (२।११) किनइते (२।११४)

२ — अआ = पआसओ (२।४६>प्रकाश)

३—अउ = अउताक (४।१२१) गउँ (२।३६) कियउ (३।६)

४—अए = दए (१।३०) करावए (३।२८) कहए (३।२०) गणए। (४।१०७) नएर (२।६ = नगर), चलए (२।२३०); पएरहु (२।२०६)

५—अओ = जओ (३।६६) करओ (३।२५), दसओ (१।६३), द्वारओ (२।१६०) दासओ (३।१०४), पव्वतओ (४।२५)

६—आअ = काअर (२।२६) नाअर (१।१२<नागर),

७—आओ = गाओष (२।८५ = गवाक्ष) पसाओ (३।४६ = प्रसाद)

८—आए = (उपाय १।५४) = उपाय); खोदाए (२।१७४ = ख़ुदा, फा०); नाएर (२।६ = नागर)

९—आउ = कुसुमाउह (१।५७ = कुसुमायुध)

१०—आइ = घुमाइअ (३।६५); जाइअ (२।६३)

११—इअ = इअ (२।२२६ = इतः); इअरो (१।३५ = इतर); उद्धरिअउँ २।२ = उद्धरामि); किजिअ (४।२५६)

१२—इआ = पाइआ (२।१०३ = पा); पिआरिओ (२।१२० = प्रिय कारिक) पेष्खिआ (२।२२६ = प्रेक्षित)

१३—ईआ = पण्डीआ (२।२२६ = पण्डित); पारीआ (२।२१६ = पारितः)

१४—उअ = उअआर (१।१८ = उपकार); धुअ (१।४३ = ध्रुव); टुअओ (२।५६ = द्वौ)

१५—एओ = करेओ (२।१०३); धारेओ (१।८४); सारेओ (१।८७) विथ्थेरेओ (१।८८)

१६—ए आ = पेआजू (२।१६५ = प्याज़)

१७—ओइ = ओइनी (१।४६); गोइ (१।४४)

१८—आए = गुरुलोए (२।२३ = गुरुलोक)

१९—आइअ = घुमाइअ (३।६५); जाइअ (२।६३)

२०—इअउ = करिअउ (१।४१); उद्धरिअउँ (२।२) गमिअउ (३।१०५)

२१—उअउ = हुअउ (३।४)
२२—ऊअओ = दूअओ (२।११४ = द्वौ अपि)
२४—इउआ = पिउआ (४।१०३ = प्रिय प्रियक)
२५—अउअआ = परउअआर (२।३६ = पर + उपकार)

ऊपर कोई पचीस तरह के संप्रयुक्त स्वरों का उदाहरण उपस्थित किया गया। निचले कुछ उदाहरणों में तीन तीन, चार-चार संप्रयुक्त स्वर दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः इन्हें खास प्रकार के स्वर समूह का ही उदाहरण कह सकते हैं। दो स्वरों के प्रयोगों में ही कभी कभी संयुक्त (Diphthongs) स्वर का भ्रम हो जाता है; परन्तु वहाँ भी उच्चारण की दृष्टि से सूक्ष्म अन्तर की स्थिति अवश्य रहती है। इस तरह के संप्रयुक्त स्वरों के विषय में डा० चटर्जी का विचार है कि जब इनका उच्चारण संयुक्त स्वरों की तरह होता है तब तो उच्चारण अवरोहित संयुक्त स्वर (falling diphthongs) की तरह होता है जिसमें प्रथम स्वर पर बलाघात दिया जाता है, या कभी कभी दोनों पर बलाघात दे कर सम उच्चारण (even) होता है, किन्तु इनका (rising diphthongs) की तरह उच्चारण नहीं होता। §६ [उक्ति व्यक्ति स्टडी] ऊपर कीर्तिलता के उदाहरणों में संभवत कुछेक और संप्रयुक्त स्वर हों, जो इस संग्रह में न आसके हों।

§८ = ए = कीर्तिलता में कुछ शब्दों में य के स्थान पर ए का प्रयोग मिलता है। वालिराए (१।३८ = वलिराय<वलिराज) राए (२।१२ = राय<राजन्) माए (२।२३ = माय<माइ>मातृ) गुरुलोए (२।२३ = गुरुलोय <गुरुलोक) भाए (२।४२< भाय <भ्राता) य श्रुति के स्थान पर यह ए रूप दिखाई पड़ता है। प्राकृत में क् ग्, च् ज्, त् द् प व् के लोप हो जाने पर उनके स्थान पर 'अ' रह जाता है ऐसी अवस्था में य या व श्रुति का विधान था। यहाँ प्रायः ए रखते हैं। ऊपर के उदाहरणों को देखते हुए लगता है कि इस पादान्त में आए ए पर मागधी के प्रथमा के एकारान्त का शायद प्रभाव हो, किन्तु यह ए स्वर पद के मध्य में भी दिखाई पड़ता है।

सुर राए नएर नाएर रमनि (२।६) इस एक पंक्ति में दो शब्दों नएर< नयर < नगर और नाएर < नायर < नागर में य के स्थान पर यह ए स्वर दिखाई पड़ता है। यह सर्वत्र ह्रस्व रूप में ही मिलता है। इस प्रकार के प्रयोगों में बहुधा इ और य के परस्पर विनिमेयता का प्रभाव प्रतीत होता है। 'य' श्रुति होने पर 'य' का 'इ' के रूप में और 'इ' की ह्रस्व 'ए' के रूप में कदाचित् परिणति हुई है।

वर्णरत्नाकर में भी इस तरह के रूप मिलते हैं। चटर्जी का विचार है कि ऍ और ऑ मुख्यतः किसी संयुक्त स्वर का जब भाग बन कर आते हैं तो वे प्रायः ह्रस्व होते हैं जैसे : बॅटआ = बेटी (वर्ण० ७६ ख) कऍल = किया हुआ। पद के बीच में ऍ और ऑ प्रायः य और वॅ के स्थान पर आते हैं। कएल और कयल दोनों ही रूप मिलते हैं। वर्णरत्नाकर §६। इस प्रकार के प्रयोग का चटर्जी ने कोई कारण नहीं बताया।

§ ९—इ स्वर का परिवर्तन ए के रूप में हो जाता है।

दऍ (१/३० = दइ = √दा) करावऍ (३/२८ = करावइ √कृ) कहऍ (३/२० = कहइ) चलऍ (२/२३० = चलइ = चल्) (पसंसए ४/६३ पसंसइ <*प्रशंसति) पुरवाए (३/११३ = पुरवइ = पूर्ण करता है)

मनुसाए (४/१३० = मनुसाइ = क्रुद्ध होकर)
इस तरह के परिवर्तन प्रायः क्रिया रूपों में ही दिखाई पड़ते हैं और अन्य स्वर में ही यह परिवर्तन होता है। यहाँ भी यह ऍ ह्रस्व ही है।
उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में वर्तमान काल की अन्य पुरुष की क्रियाओं में अकारान्त रूप के कुछ प्रयोग मिलते हैं। ये प्रयोग कीर्तिलता में भी इसी काल की क्रिया में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। चटर्जी ने इस तरह के प्रयोगों पर विचार करते हुए लिखा है कि उद्वृत्त स्वर-समूह अइ एइ क्रिया के प्रत्यय के रूपों में वर्तमान काल के अन्य पुरुष में कुछ विचित्र प्रकार का परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन अइ, अए, या ए, न होकर अ होता है। वोल, कह, चल आदि रूप।
चटर्जी ने मत से अइ को अ के रूप में आने में इस प्रकार का विकास-क्रम पार करना पड़ा होगा :

अइ प्रथम विवृत्त अइ>अऍ के रूप से होते हुए अॅ के रूप में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार

चलति>चलइ>चलए>चल। उक्ति व्यक्ति स्टडी § ३९
मैं इ के ऍ रूप के परिवर्तन में एक सीढ़ी ऊपर के इन अऍ वाले रूपों को विचारार्थ उपस्थित कर रहा हूँ। कीर्तिलता की क्रियाओं पर विचार करते समय हम देखेंगे कि चलॅ> चलऍ चलइ इन तीनों रूपों का प्रचुर प्रयोग वर्तमान काल के अन्य पुरुष में प्राप्त होता है।

§ १०—आ कभी कभी ह्रस्व अ की तरह प्रयुक्त होता है। इस तरह के

के प्रयोग प्रायः समस्त पदों में तब होते हैं, जब इस पर से बलाघात हट जाता है।

तमकुण्डा (२/१७५ = ताम्रकुण्ड) तम्बारू (२/१६८ = ताम्रपात्र !) मछहटा (२/१०३ माछ – हाट < मत्स्यहाट) वणिजार (२/११३< वाणिज्य कार) सोन हटा (२/१०२ < स्वर्ण हाट)

§ ?१—ऋ का उच्चारण इस काल में अवश्य ही रि था। किन्तु लिखने में ऋ का प्रयोग हुआ है। यह बहुत कुछ कीर्तिलता के लेखक के तत्सम प्रेम का परिणाम है। इस तरह कीर्तिलता में ऋ रक्षित भी है, उसका लोप और रूपान्तर भी हुआ है। ऋ का रूप भृङ्गी (१।१) में मध्य स्वर की तरह और ऋण (२।६६) में आदि स्वर की तरह दिखाई पड़ता है। कीर्तिलता के गद्यों में जहाँ संस्कृत शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है ऋ के प्रयोग मिलते हैं। पितृ बैरी (१।८०) शृंगाटक (२।६६) पृथ्वीचक्र (२।१०६) प्रभृति (४।५०)

ऋ का लोप भी होता है। तद्भव शब्दों में प्रायः ऋ का लोप हुआ है और वहाँ निम्न प्रकार से रूपान्तर दिखाई पड़ते हैं।—

ऋ > अ = कृष्ण > कन्ह (१।३८) गृह > घर (२।१०)

ऋ > आ = नृत्य > नाच (२।१८७)

ऋ > इ = हृदय > हियय (?।२८ अमृत > अमिअ (१।६)

वृत्तान्त > वितन्त (३।३) कृत्रिम > कित्तिम (२।१३१)

भृत्य > भित्त (३।११६)

ऋ > उ = पृच्छ > पुच्छु (३।१२) पृथ्वी > पुहवी (४।१०६)

प्राकृत > पाउँअ (१।२०) शृणु > सुनु (३।६८)

ऋ > ए = भातृ > भाए (२।४२) मातृ > माए (२।२३)

ऊपर के इन रूपों को देखते हुये इतना स्पष्ट मालूम होता है कि इसमें ऋ का इ ही अधिक हुआ है। उसके बाद ऋ का उ हुआ है। डा० तगारे का कहना है कि ऋ का इ रूपान्त पूर्वी अपभ्रंश में अधिक मिलता है। पश्चिमी अपभ्रंश में ऋ का इ रूपान्तर ४३ प्रतिशत से ६६ तक दिखाई पड़ता है। [हि० ग्रा० अप० पृ० ४१]

कृश का किरिस (३।१०८) श्री का सिरि (३।११८) रूप भी मिलते हैं जिनमें स्वरभक्ति के कारण यह परिवर्तन उपस्थित हुआ है।

सानुनासिकता (Nasalization)

§ १२—स्वरों की सानुनासिकता—

कीर्तिलता में प्रायः स्वरों की सानुनासिकता प्रकट करने के लिए अनुस्वार का प्रयोग हुआ है किन्तु साथ ही साथ अनुनासिक स्वर के लिए ञ का प्रयोग भी मिलता है। इस तरह अँ, आँ, इँ, उँ, एँ ओँ के लिए ञ, ञा, ञि, ञु ञे, ञो के प्रयोग प्रायः मिलते हैं।

जानिञ (२।२३६ = जानिअ) हिञ (३।११ = हिय < हृदय) निञ (२।२२६ = निज) मेञाणे (२।३६ = मेओणे) काञि (१।१ = काइँ < किमि) गोसाञुनि (२।११ = गोसाउँनि < गोस्वामिन्) ञुण (२।४३ = उँण < पुनः) (ञेहा ३।२१ = जेँहा = जहाँ) ञेञोन (२।२३६ = जेञोण) पाञे (२। ५६ = पाए < पादेन) उद्धरञो (२।४३ = उद्धरओं) उपसञो (४।१०३ उपसओं) कहेञो (३।१४८ = कहओं) ञेञोन (२।२३६ = ञे ञोण < जेमुन) गाञो (२।६२ = गाँवों) < ग्राम)

§ १३ – सम्पर्क जनित सानुनासिकता (Cantegeous Nasali zation) के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। ऐसी अवस्था में अपने परवर्ती अनुनासिक या सानुनासिक स्वर के सम्पर्क के कारण कोई स्वर सानुनासिक हो सकता है। इस प्रकार के स्वर प्रायः अनुस्वार या चन्द्र विन्दु से व्यक्त किये जाते हैं।

उत्तम काँ (२।११३) कमन काँ (२।५३) नहीं (२।२००) = नहिं साथ ही नहु १।२८ भी मिलता है। नाञों (२।६८ नाँव ∠ नाम) कुसुमाउँह (१।५७∠कुसुमायुध)

§ १४—अकारण सानुनासिकता। इस प्रकार के उदाहरण भी कीर्तिलता में भरे पड़े हैं। अकारण सानुनासिकता आधुनिक आर्य भाषा काल में तो एक बहु-प्रचलित प्रवृत्ति सी हो गई है, किन्तु इसका आरंभ अवहट्ट काल से ही हो गया था। कीर्तिलता की भाषा में इस प्रकार की सानुनासिकता में बड़ी गड़बड़ी परिलक्षित होती है। क्योंकि कभी-कभी एक ही शब्द में निश्चित स्वर सानुनासिक होता है, कभी वह स्वर सानुनासिक नहीं होता।

उँच्छाहे (१।२६ = उत्साह) उँपताप (३।५४ ∠ उपताप) उँपास ३।११४ ∠ उपवास) काँसे (२।१०१ ∠ कास्य) जूंआं (२।१४६ ∠ द्यूत) पिउँआ (४।१०३ ∠ प्रिय + वा) वंभण (२।१२१ = ब्राह्मण) वधँ (४।८२ वध) रुंट्ठ (३।१५३ = रुष्ठ) हरँख (३।७३ = हर्ष)

§१५—अपभ्रंश को उकार बहुला भाषा कहा गया है, इसलिए इस भाषा में प्रायः अन्त्य उ स्वर की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के उ कीर्तिलता में प्रायः अनुनासिक मिलते हैं। 'उ' का प्रयोग भी विरल नहीं है, और यह बताना कठिन है कि इस तरह के अन्त्य उ और उँ में किसकी संख्या अधिक है पर अनुनासिक उं की संख्या कम नहीं है, इतना अवश्य कहा जा सकता है। यह सानुनासिकता भी अकारण ही है।

उद्धरिअउँ (२/२) करिअउँ (१/४१) गोचरिअउँ (३/१५४) परिअउँ (३/३५) पल्लानिअउँ (४/२७) वधिअउँ (२/१६) वनिअउँ (२/५१) भरिअउँ (३/३१)

ये उदाहरण संस्कृत कृदन्त 'क्त' प्रत्यय वाले रूपों के हैं जो अपभ्रंश में इत 7 इअ रूप में आते हैं। इनमें अक्सर 'उ' लग जाता है; पर यहाँ उं की अधिकता दिखाई पड़ती है।

§१६—स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के साथ अनुस्वार को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति अवहट्ट की अपनी विशेषता है। मुख-सुख के लिए जिस प्रकार द्वित्व को सरल करने की प्रवृत्ति परवर्ती काल में बढ़ी, उसी प्रकार प्रायः पूर्ण अनुस्वार या वर्गीय आनुनासिक के स्थान पर ह्रस्व अनुस्वार चन्द्र बिन्दु के रूप में रखते हैं और स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ कर देते हैं।

आँग (२/११०∠अंग) आँचर (२/१४६∠अंचल) काँधा (४/४६ ∠स्कन्ध) काँड (४/१६३ = कण्ण∠कर्ण) चाँद (२/१३० = चंद∠चन्द्र) बाँधा (४/४६∠बन्ध) वाँकुले (४/४५∠वक्र) भाँग (२/१७४ = भंग∠भग्न) लाँघि (४/४८∠लंघ्)

व्यंजन

§१७—कीर्तिलता में प्रायः वर्तमान कालीन आर्यभाषा के सभी व्यंजन पाए जाते हैं।

क ख ग घ ङ	त थ द ध न
च छ ज झ ञ	प फ ब भ म
ट ठ ड ढ ड़, ण	य र ल, व श, ष, स, ह

§ १८ ण और न में किसी प्रकार के अन्तर-निर्धारण का कोई नियम बना सकना कठिन है अनुलेखन-पद्धति (टिप्पणी § २) में इस प्रकार के शब्दों का उदाहरण दिया गया है जिनमें एक अवस्था में ण और दूसरी अवस्था में न

का प्रयोग मिलता है। फिर भी अपभ्रंश के प्रभाव में कुछ शब्दों के बहुप्रचलित न को ण करके भी लिखा गया है। अणवरत (४।१६∠अनवरत) कम्माण (२।१६०∠कमान) भाअण (४।७६∠भोजन) मअरन्दपाण (२।८२∠मकरन्दपान) माण (४।१२२∠मान) रअणि (३।४∠रजनी) षाण (२।२२२∠खान) सेण्ण (३।६५∠सैन्य)। ण को न करने की प्रवृत्ति तो बहुत प्रचलित है। कल्लान (३।१४∠कल्याण); कन्न (१।३८∠कृष्ण) तारुन्न (२।१३१∠तारुण्य); तिहुअण (४।२४६∠त्रिभुवन); पुन्न (१।३६∠पुण्य)

§ १६—ञ कीर्तिलता में खास व्यंजन है जो किसी भी स्वर की सानुनासिकता द्योतित करने के लिए उक्त स्वर के साथ प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरण [टिप्पणी § १२] में दे दिए गए हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों में ञ का प्रयोग वर्गीय अनुनासिक के रूप में ही होता है। अञ्जन (२।१४२) नयनाञ्जन (२।१४३)

§ २०—क्ष का उच्चारण 'क्ख' की तरह होता था और लिखने में प्रायः यह ष्ख हो जाता था। प्राचीन आर्य भाषा का 'क्ष' प्रायः 'क्ख' या 'छ' के रूप में रूपान्तरित होता है। वर्णरत्नाकर, पदावली (विद्यापति) आदि के प्रयोगों से मालूम होता है कि 'ष्ख' प्राचीन मिथिला में बहु प्रचलित था जो क्ख का लिपि में प्रतिनिधित्व करता है।

पेष्खन्ते (२।५३∠प्रेक्षन्तो); बिअष्खण (३।६०∠विजक्खण∠विचक्षण); विपष्खव (४।३७∠विपक्ष); भष्खिअ (३।१०७∠भक्षित); रष्खओ २।४;∠ √रक्ष्); लष्खव (४।४२∠लक्ष); लष्खवण (२।१५७∠लक्षण)।

क्ष का कहीं कहीं ष मात्र भी होता है। जषणे (४।१२० यं+क्षणे) जाषरी (२।१८६ ∠यक्षिणी?) लष (३।७३∠लक्ष) षणे (३।३७∠क्षण) षेत (४।७६१∠क्षेत्र); क्ष का 'क्ख' रूप भी मिलता है। पक्खारु (३।६<प्रक्षालनं); पक्ख (३।१६१<पक्ष) भिक्खारि (२।१४<भिक्षा कार); लक्खिअइ (१।२१७ √लक्ष्) सिक्खवइ २।१४<√शिक्ष्)

§ २१—श और स दोनों का प्रयोग मिलता है। श का प्रयोग केवल तत्सम शब्दों में ही मिलता है। स का प्रयोग तद्भव में प्राप्त होता है।

किन्तु ष का प्रयोग कीर्तिलता में बहुत महत्व का विषय है। इसका प्रयोग क्ष के लिए हुआ है, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। इसका प्रयोग 'ख' के लिए हुआ। ष के 'ख' में प्रयोग संख्या की दृष्टि से अधिक हैं।

षण्डिअ (३।६१<खंडित) षराब (२।१७८<खराब) षरीदे (२।१६६ खरीदना षाण (२।२२२<खान) षास (२।३२२<खास) षीसा (२।१६८=खीसा)

इन प्रयोगों को देखने से मालूम होता है लिखने में भले 'ष्' का प्रयोग किया गया हो किन्तु उच्चारण की दृष्टि से यह ख् के निकट था। बहुत सी आधुनिक आर्य भाषाओं में ष् का प्रयोग अघोष ऊष्म वर्ण के लिए न होकर महाप्राण कंठ्य ख के लिए हुआ। इसके बहुत से उदाहरण चन्द, कबीर, जायसी और तुलसी की रचनाओं में मिल सकते हैं। कीर्तिलता या मैथिली में यह पारम्परा-स्वीकृत प्रयोग प्रतीत होता है। यह प्रयोग जनता द्वारा गृहीत है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि 'ष्' जब किसी व्यंजन से संयुक्त न होकर अलग लिखा जायेगा तो उसका उच्चारण 'ख्' ही होगा। षष्ठ का उच्चारण मैथिली में सर्वत्र खष्ठ ही होता है। यह सार्वजनिक है। साधारण पढ़ा लिखा भी लिखता 'ष' है लेकिन उच्चारण ख् ही करता है।[1]

§२२—कीर्तिलता की भाषा में र, ल, ड, के अन्तर को सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता। पश्चिमी मागधी की वर्तमान आर्यभाषाओं मैथिली, भोजपुरी और मगही आदि में जिस प्रकार र, ल, ड परस्पर विनिमेय हैं उसी प्रकार कीर्तिलता की भाषा में भी ये परस्पर विनिमेय कहे जा सकते हैं।

घोल (२।६५<घोड़ा<घोटक) चोल (२।२२८ = चोर) तुलकन्हि (४।१२०<तुर्क) दरवाल (२।२३८<दरबार) दवलि (२।१७७=दवड़ि = दौड़) देउरि (२।२०७<देवकुल); पइज्जल (२।१६८<पैज़ार ?) पकलि (४।१४८ = पकड़) सुरुतानी (३।६६<सुल्तानी); थोल (३।८७ = थोड़ा) तोर (२।२०४ = तोड़<त्रुट्) कापल (२।६५<कापड़<कर्पट) करुआ (४।१०३=कड़ुवा<कटु) काजर (२।१६०<काजल) आधा 'र' यानी रेफ जब बदल कर ड हो जाता है तो कुछ बड़े महत्वपूर्ण रूप दिखाई पड़ते हैं।

काँड (४।१६६<कर्ण) आकण्डन (१।२६<आकर्णन)

§ २३—न का ल के रूप में परिवर्तन हो जाता है। इस तरह के रूपों में नहिअ (२।२३=लहिअ<$\sqrt{}$लभ्) साथ ही लहिअ (३।१५६) भी मिलता है। इलामे (२।२२३ = इनाम) अब भी बिहार के पूर्वी और पश्चिमी बङ्गाल के कुछ पश्चिमी ज़िलों में न का ल या ल का न उच्चारण मिलता है। वीरभूमि जिले में इसका प्रयोग विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है। [वीरभूमि डाइलेक्ट]

§२४—अपभ्रंश की तरह कीर्तिलता में भी अघोष व्यंजन किसी स्वर के बाद प्रयुक्त होने पर प्रायः घोष हो जाते हैं।

---

1 ग्रियर्सन, मैथिली डाइलेक्ट।

सगरे (३।७८<सकल) बेगार (३।२०१ = बेकार) सोग (३.१४७ = शोक) लोग (२।३१<लोक)

बहुत कम स्थलों में इस नियम के प्रतिकूल उदाहरण प्राप्त होता है। हमारे देखने में सिर्फ एक स्थान पर घोष का अघोष रूप दिखाई पड़ता है। अदप (३।४३ = अदब)।

§ २५—कीर्तिलता में भी अवहट्ट की मुख्य प्रवृत्ति सरलीकरण (Simplification) के प्रभाव के फलस्वरूप द्वित्व को तोड़कर एक व्यंजन कर दिया गया है और उसके स्थान पर क्षतिपूर्ति के लिए परवर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। काजर (२।१३० < कज्जल) कापल (२।६५ < कर्पट) ठाकुर (२।१० = ठक्कुर) दूसिहइ (१।४<दुस्सिहइ<दूसइस्सइ<दूषयिष्यति) जासु (१।२६ <जस्स<यस्य); भूट (२।१०४<उच्छिष्टम्) तीनू (२।३६<तिन्न) नाच (२।१२७<नृत्य) पाछा (२।१७६<पच्छ<पश्च) पीटिआ (४।४७<पिट्ठ< पृष्ठ) पूहवी (२।२२०<पृथ्वी) पैठि (२।६६<पइट्ठ) भागि (३।७५<भग्न°) भीतर (२।८०<अभ्यन्तर) भूखल (४।११६<भुक्षित) माथे (२।२४३<मस्तके) मानुस (२।१०७<मनुष्य) राखेहु (१।४४<रक्ख) लागि (२।१४०<लग्गि) दाप (४।६७ <दर्प) पोखरि (२।८३<पुष्करिणी)

कभी कभी सरलीकृत तो कर देते हैं किन्तु क्षतिपूर्ति के लिए स्वर को दीर्घ नहीं करते। कुछ स्थितियों में जो स्वर दीर्घ हैं वे दीर्घ ही रह जाते हैं कभी कभी ह्रस्व भी हो जाते हैं पर ऐसे उदाहरण विरल ही हैं।

इस तरह के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

अछए (३।१३१ ∠ अच्छइ) अपनेहु (३।३८ ∠ अप्पण ∠ आत्मन्) यहाँ आत्मन् का 'आ' ह्रस्व होकर 'अ' हो गया है। उपजु (३।७६ ∠ उप्पज ∠ उत्पद्यते) परिठव (२।६५ ∠ परिष्ठव) विका (३।११०) विसवासि (२।७ ∠ विश्वास) वाज (२।२४४ ∠ वाद्य) मुझ (३।१२८ ∠ मुज्झ ∠ मह्यम्) मूले (४।४४ ∠ मूल्य) सौभागे (२।१३२ ∠ सौभाग्य) हासह (४.८४ ∠ हास्य)

रूप-विचार (Morphology)

§ २६ संज्ञा—कीर्तिलता से अपभ्रंश के प्रभाव के कारण उकारान्त रूपों की अधिकता होनी चाहिए थी किन्तु अकारान्त रूप ही सर्वाधिक रूप से

मिलते हैं। उकारान्त प्रातिपादिकों की संख्या कुल करीब पचास के आस पास पहुँचती है जबकि अकारान्त शब्दों की संख्या डेढ़ हजार से ऊपर है।

कीर्तिलता में प्रायः सभी स्वरों से अन्त होने वाले प्रतपादिक (संज्ञा) मिलते हैं।

अ—वल्लीअ (२।१६६ ∠ बली-फा०)

आ—अलहना (२।१३४ ∠ अ + √लभ्) असहना (२।१३४ ∠ अ + सह्) कुण्डा (२।१७५ ∠ कुण्ड) करुआ (३।१०३ ∠ कटु) बटुआ (२।२०२ ∠ बटुक) ओझा (३।१४३ ∠ उपाध्याय)

इ—अग्गि (३।१५२ ∠ अग्नि) जाति (२।१३) अधओगति (२। १४२), आगरि (२।११५) गोरि (२।२०८ ∠ गोर = कब्र) गोसाञुनि (२।११ ∠ गोस्वामिन्), कौडि (३।१०१ ∠ कपर्दिका)

ई—अटारी (२।६७ ∠ अट्टालिका), अन्तावली (४।१६७) कट-काञी (३।१५८ ∠ कटक) गअएडी (४।१६६) जापरी (२। १८६ ∠ यक्षिणी ?) देहली (२।१२४) दाढ़ी (।१७७)

उ—वथ्थु (४।११६ ∠ वस्तु) विज्जु (४।२३१ ∠ विद्युत्)

ऊ—तम्वारू (२।१६८ ∠ ताम्रपात्र) गोरू (४।८७ ∠ गोरूप)

ए—खोदाए (२।१७४ ∠ खुदा) दोहाए (२।६६ = दुहाई)

ऐ—भुववै (१।५० ∠ भूपति)

ओ—नाञो (२।६८ ∠ नाम) गावों (२।६७ ∠ ग्राम)

प्राचीन आर्य भाषा काल में संज्ञाओं में अधिक शब्द व्यंजनान्त होते थे। इन व्यंजनान्त शब्दों के कारण उत्पन्न व्याकरण गत जटिलता को मिटाने की प्रवृत्ति तो प्राकृत-पाली काल में ही दिखाई पड़ने लगी। वहाँ भी व्यंजनान्त शब्दों को या तो हटा दिया गया या उन्हें संस्कृत के अकारान्त शब्दों की तरह सुबन्त रूप दिया गया। रामस्स की तरह अग्गिस्स और बाउस्स भी होने लगे। अपभ्रंश काल में आते आते इस प्रवृत्ति में काफी विकास हुआ और आगे चल कर विभक्तियों में कोई निश्चित विधान ही नहीं रह गया।

कीर्तिलता में भी इ कारान्त और उकारान्त शब्दों को अकारान्त बनाया गया है। गरुअ (३।१३७ ∠ गुरु + क) और लच्छिअ (४।५६ ∠ लक्ष्मी) ऐसे शब्दों के उदाहरण हैं।

§२७—मैथिली के प्रभाव से संज्ञा शब्दों को ह्रस्व स्वरान्त बनाया गया है। ग्रियर्सन ने मैथिली की संज्ञाओं के चार प्रकार के रूप लक्षित किए थे। उन्होंने बताया कि घोड़ा के चार रूप घोड़, घोड़ा, घोड़वा, और घोड़ौवा मिलते हैं।[१] कीर्तिलता में घोल, घोर आदि रूप तो मिलते हैं। वा प्रत्यान्त रूप भी मिलते हैं पउव (३।१६१ = प्रभु + वा) पिउवा (४।१०३ = प्रिय + वा) बदुआ (२।२०२ = वटु + वा) आदि रूप विशेष महत्त्व के हैं।

§२८ (लिंग) अपभ्रंश में लिंग व्यवस्था को सभी ने अनियमित माना है। हेमचन्द्र ने इसे अतंत्र कहा है।[२] पिशल ने इसे लचीला और अस्थिर कहा। कीर्तिलता में भी अपभ्रंश का यह गुण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। देवता ४।५१ आकारान्त होते हुए भी पुल्लिंग है जबकि आशा, रमा, और दया आदि स्त्रीलिंग। तिरहुत स्त्रीलिंग है और उसका विशेषण है पवित्री ४।३)। राह (४।८) का प्रयोग पुल्लिंग में हुआ है। मंत्र (४।४८, स्त्रीलिंग है। कीर्तिलता में संस्कृत के प्रभाव के कारण शायद अधिक गड़बड़ कम मिलेगा पर अपभ्रंश के प्रभाव के कारण उनमें अव्यवस्था स्वाभाविक है। वड़ि नाओ (२।६४) में नाम स्त्रीलिंग हैं।

कीर्तिलता के लिंग-विधान की सबसे बड़ी विशेषता है विशेषणों और कृदन्तज विशेषण रूपों में लिंग व्यवस्था। विभूति (१।८६) स्त्रीलिंग है उसका कृदन्तज विशेषण रूसलि भी स्त्रीलिंग है। दोखे हानि, माझ खींनि, रसिके आनलि (२।१४६) में सर्वत्र स्त्रीलिंग विशेषणों का प्रयोग हुआ है। विद्यापति के पदों में भी इस प्रकार की स्त्रीलिंग क्रियाओं और विशेषणों का बहुत प्रयोग मिलता है।

§२९ (वचन) संस्कृत काल में तीन वचनों में से पाली युग तक आते आते केवल दो शेष रह गए। बहुवचन ने ही द्विवचन का भी स्थान ले लिया। अपभ्रंश काल में अधिकांश स्थलों पर कर्ता में लुप्तविभक्तिक प्रयोग के कारण वचन का निर्णय केवल क्रिया रूपों को देख कर ही हो सकता है। कर्ता से भिन्न कारकों में कीर्तिलता में बहुवचन के लिए संज्ञा और सर्वनाम दोनों में 'न्हि' या 'न्ह' का प्रयोग मिलता है।

तान्हि वेश्यान्हि (२।१३६) युवराजन्हि मांझ (१।७०), तान्हिकरो पुत्र

१. जार्ज ग्रियर्सन मैथिली डाइलेक्ट पृ० ११

२. लिंगमतंत्रम् हेम ८।४।४४५

(१।७०), जन्हि के (२।१२६), मन्तिन्ह (३।६) महाजन्हि करो (२।२८), नगरन्हि करो। (२।६०)।

इन रूपों के अलावा कुछ ऐसे भी रूप बनते हैं जिसमें 'सर्व' के किसी रूप को जोड़ कर बहुवचन बनाया जाता है।

सब्वउं नारि विअख्खनी सब्वउं सुस्थित लोक (२।१४२)

इन रूपों में संज्ञा या सर्वनाम का मूल रूप एक वचन का ही गृहीत होता है। यह प्रवृत्ति मैथिली में भी दिखाई पड़ती है।

कीर्तिलता में एक स्थान पर कर्ता कारक में 'हुँकारे' शब्द आया है।

वीर हुकारें होहिं आगु रोवंचिय अंगे (४।१६५)

इसमें हुकारें का 'ए' कारक विभक्ति तो नहीं ही है। इसे बहुवचन की विभक्ति मानने की संभावना हो सकती है।

§ ३०—कारक : आधुनिक हिन्दी में तो कारक विभक्तियों के प्रयोग का अत्यन्त अभाव है। अब तो कारक विभक्तियों का स्थान परसर्गों ने ले लिया है। कारकों का विभक्तियों के लोप की प्रक्रिया अपभ्रंश काल में ही आरम्भ हो गई थी और अवहट्ट काल तक आते आते तो इसमें और भी अधिक वृद्धि हो गई। कीर्तिलता में कारक विभक्तियों से कहीं ज्यादा प्रयोग परसर्गों का हुआ है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। विभक्तियों का अध्ययन उनके समान प्रयोगों को देखकर समूहों में होने लगा है। सर्व प्रथम ऐसा अध्ययन डा० स्पेयर ने पाली की विभक्तियों का किया जिसमें चतुर्थी और षष्ठी की विभक्तियों का एक साथ विवेचन मिलता है।[1] डा० तगारे ने सविभक्तिक प्रयोगों को देखकर यह स्वीकार किया है कि इनके मुख्य दो समूह हैं। पहला समूह तृतीया और सप्तमी का दूसरा चतुर्थी पञ्चमी और षष्ठी का।[2] प्रथम द्वितीया और सम्बोधन प्रायः निर्विभक्तिक होते हैं। अतः इन्हें भी एक समूह में रखा जा सकता है और इनके अपवादों पर विचार किया जा सकता है।

§ ३१ कीर्तिलता में तृतीया सप्तमी के लिए प्रायः तीन विभक्तियों का प्रयोग हुआ है। ए, ए, हि।

१. डा० स्पेयर वैदिक संस्कृत सिन्टेक्स § ४३, तगारे द्वारा उद्धृत पृ० २१।

२. डा० तगारे हि० ग्रे० अप० पृ० २४ भूमिका।

तृतीया ए-दाने दलिय दारिद्द) १।४७) वित्ते बटोरइ कीत्ति (१।४८) सत्तु जुज्झइ (१।४८) कोहे रज्ज परिहरिअ (२।२५)
हिं—कनक कलशहिं कमल पत्र पमान नेत्तहिं

तृतीया में एन और एहि विभक्तियाँ भी मिलती हैं। पुरिसत्तणेन (१।३२) जम्ममत्तेन (१।३२) जलदानेन (१।३३) और गमनेन (४।१०६) इनमें संस्कृत विभक्ति 'एण' का स्पष्ट प्रभाव है। परक्कमेहि (४।३०) चामरेहि (४।३६) पष्खरेहि (४।४२) में एहि का प्रयोग मिलता है।

सप्तमी—सज्जन चिन्तइ मनहिं मने (१।७) रहसे दव्व दए विस्सरइ (१।३०)
घरे घरे उग्गिह चन्द (२।१२५) आँतरे-आँतरे (२।६२)
आँतरे पतरे सोहन्ता (२।२३०) सथ्थ सथ्थेहिं (२।६३)

परनिष्ठित अपभ्रन्श में भी, दइए ं पवसन्तेण, में एं विभक्ति तृतीया के लिए आई है। वैसे ही बहुवचन करण में 'गुणहिं न संपइं' में हिं मिलता है। अधिकरण में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं। एं या ए विभक्ति की उत्पत्ति पर भिन्न भिन्न मत हैं। जूल ब्लाक एं को संस्कृत तृतीया की विभक्ति एण से उत्पन्न मानते हैं।[1] यही मत ठीक माना जाता है। टर्नर का भी ऐसा ही मत है।[2] हिं के विषय में काफी मतभेद है। ग्रियर्सन ने 'इं' के सिलसिले में इसकी व्युत्पत्ति म० मा० आ० भाषा के अधिकरण 'अहिं' से बतायी है।[3]

इन तमाम मतों का अध्ययन करते हुए डा० तगारे ने कहा कि इस समूह की विभक्तियां हिं, एं, अइं इं, इत्यादि संस्कृत तृतीया बहुवचन एभिः तथा सप्तमी एक बचन अस्मिन् इन दोनों के मिश्रण से बनी हैं।[4] चटर्जी 'भिः' और षष्ठी के अणाम् के 'न' के मिश्रण से मानते हैं।[5]

§ ३२ चतुर्थी षष्ठी और पंचमी समूह की सबसे प्रधान विभक्ति ह, हं और हुँ आदि हैं। इनका प्रयोग कीर्तिलता में इस प्रकार हुआ है।

---

१. जूल ब्लाक, लांग मारते § १६३।
२. दि फोनटिक वीकनेस अव् टरमिनेशनल एलमेंट इन इंडो आर्यन रा० ए० जर्नल (१६२७ पृ० २२७—३६ ।)
३. क्रिटिकल् रिव्यू अव् मि० जूल ब्लाक ला लांग मराते, रा० ए० ज० १६२१ पृ० २६।
४. डा० तगारे, हि० ग्रे० ३ अ० § ८१
५. चटर्जी, बबुआ मिश्र, वर्णरत्नाकर अंग्रेजी भूमिका § ३७।

मन्ती रज्जह नीति (२।३३) मेरहु जेट्ठ जरिट्ठ अछ (२।४२)
लोअह सम्मदे (२।१७२) राअह नन्दन (२।५२)
विश्वकर्महुँ मेल वड प्रयास (चतुर्थी) (२।१२८)

इस वर्ग की विभक्तियों में सम्प्रदान और अपादान की विभक्तियां कीर्तिलता में नहीं के बराबर मिलती हैं। यह आश्चर्य की वस्तु है कि जो विभक्ति समूह अपभ्रंश काल में सर्वप्रधान माना जाता था इसकी विभक्तियां कीर्तिलता में बहुत कम मिलती हैं ह या हँ : षष्ठी में तथा हुँ (सम्प्रदान) में मिलती है अन्यथा परसर्गों का ही प्रयोग हुआ है। तुरुकाणो लक्षण (२।१५७) में संस्कृत-षष्ठी 'आणाम्' का प्रभाव स्पष्ट मालूम होता है।

§३३—षष्ठी की कीर्तिलता में एक विभक्ति 'क' मानी जाती है। इसे कुछ लोग विभक्ति मानने के पक्ष में हैं। इसका आधार यह मानते हैं कि यह विभक्ति संज्ञा के साथ एक झटके से उच्चारित हो जाती है। पर जब हम इसकी व्युत्पत्ति आदि पर विचार करते हैं तो इसे परसर्ग मानना ही अधिक उचित जान पड़ता है। कीर्तिलता के उदाहरण :

१. न दीनाक दया न सकता क डर (४।६६) न आपक गरहान पुण्य क काज (४।६८) शत्रु क शंका न मित्र क लाज (४।६६) भाग क गुंडा (२।१७४) राजपथ क सन्निधान (२।१२६) ब्राह्मण क यज्ञोपवीत (२।१०६)

§३४ यह विभक्ति मैथिली में पाई जाती है। भोजपुरी में भी इसका प्रयोग होता है। इसकी व्युत्पत्ति काफी सन्देहास्मद है। अब तक के नाना मत-मतान्तर का सारी नीचे दिया जाता है।

१. संस्कृत के क प्रत्यय : मद्रवृज्यो : कन पाणिनी ४।२।१३ से ही इसकी उत्पत्ति हो सकती है। मद्रक-मद्र देश का।

२. कुछ लोग इसकी उत्पत्ति संस्कृत कृत से भी मानते हैं हार्नली ने इसका विकास इस प्रकार माना है :

सं० कृतः>प्रा० करितो>करिओ>केरको>अपभ्रंश केरओ केरो>हिन्दी केर>का।[1]

और इसी से क भी संभव है। वीम्स भी 'का' की उत्पत्ति कृत (संस्कृत) से ही मानते हैं।

---

१. हार्नली इस्टर्न हिन्दी ग्रामर §३७७

३. पिशेल तथा अन्य विद्वानों की धारणा है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत कार्य से सम्भव है।

४. चटर्जी इसका सम्बन्ध प्राकृत 'क्क' से करते हैं। अपने तर्क के पक्ष में वे कहते हैं कि संस्कृत कृतः के प्राकृत रूप कअ का आधुनिक काल तक आते आते 'क' बना रहना सम्भव नहीं है।[१]

इस प्रकार हमने देखा कि क के विषय में विभिन्न विद्वानों की विभिन्न रायें हैं।

इन सब रूपों, कृत, कार्य, या प्राकृत कक को देखते हुए, जिससे क की व्युत्पत्ति मानी गई है, इसे परसर्ग कहना ही अधिक ठीक है।

§३५—हमारे सामने तीसरा वर्ग आता है कर्ता कर्म और सम्बोधन का। कर्ता कर्म में ए और ओ विभक्तियाँ मिलती हैं।

कर्ता **हुकारे होहिं** (४।१६५) **पवत्तओ बढ़ल ४।२५**
राओ विअक्खण (३।६०) **सबे किछु किनइते पावथि** (२।१४)
राआ पुत्ते मंडिआ २।२२८

कर्म : **दासओ छपाइअ** । कर्म के बहुवचन में हिं विभक्ति प्रायः मिलती है।
सन्तुहि मित्त कए (२/२७) फरमाणहिं **बाँचिअइ** (४/१५५)
असवारहिं मारिअ (४/१३०)

कर्ताकारक की ए ओ एं विभक्ति विद्यापति की पदावली और वर्ण रत्नाकर में भी मिलती है। पदावली में कामे संसार सिरजल, काम्य सवे शरीर, आदि तथा वर्णरत्नाकर में ब्रह्माजे, चिन्ताएं आदि रूप मिलते हैं। ओ विभक्ति प्राकृत के प्रभाव के कारण कीर्तिलता की गाथाओं (१।३२) में भी दिखाई पड़ती है।

'ए' विभक्ति को डा० तगारे ने पूर्वी अपभ्रंश की विशेषता मानी है। दोहा कोश में सुन्नए, परिपुण्णए, साहावे, परमत्थए आदि रूप मिलते हैं। तगारे का कहना है कि यह रूप स्वार्थे क प्रत्यय से बना है। जैसे मकरन्दए (कण्हपा) <मकरन्दक होमे<होमक, अभ्यासे<अभ्यासक आदि रूप बनते हैं उसकी उत्पत्ति अक>अय>अए इस रूप में हुई है।[२] शुक्ल जी ने जायसी की

१. चटर्जी, वै-लैं. पृ० ५०३।

२. डा० तगारे, हि० ग्रे० अप० पृ० १८

रचनाओं से इस प्रकार के कई प्रयोग छाँटे हैं।

क. सुग तहाँ दिन दस कल काटी

ख. राजे लीन्ह ऊवि के सांसा

ग. राजे कहा सत्य कहु सूआ

बंगला मगही और भोजपुरी में भी यह प्रयोग मिलता है। मागधी में प्रथमा के रूप एकारान्त होते थे।

'ओ' प्राकृत प्रभाव है। हिं विभक्ति कर्म में आती है। यह संस्कृत की नपुंसक लिंग के शब्दों की द्वितीया के 'नि' से संभव है। नि, इं या हिं के रूप में दिखाई पड़ती है। कीर्तिलता में सम्बोधन में प्रायः निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं। कुछ स्थान पर हु विभक्ति मिलती है।

अरे अरे लोगहु, वृथा विस्मृत स्वामि शोकहु, कुटिल राज नीति चतुरहु

परिनिष्ठित अपभ्रंश की 'हो' विभक्ति का ह्रस्वीकरण के कारण 'हु' रूप हो गया है।

§ ३६ विभक्ति के रूप में चन्द्र बिन्दु का प्रयोग :

विभक्ति के रूप में चन्द्र बिन्दु का प्रयोग कीर्तिलता की अपनी विशेषता है। यह प्रयोग प्रायः एक से अधिक कारकों के लिये सामान्य रूप से हुआ है। नीचे इसके उदाहरण दिए जा रहे हैं।

अधिकरण : सव दिसँ पसरु पसार (२।११५)
मथाँ चढ़ावए गाइक चुडुआ (२।२०३)
गौ वम्भन धँ दोस न मानहिं (४।८२)
सत्तु घरँ उपजु उर (३।७६)

कर्म : तुम्हे खग्गो रँउ दलिय (३।३०)
न पाउँ उमग नहिं दिज्जिय (१।५३)

चंद्रविन्दु के रूप में कारक विभक्ति का प्रयोग केवल कीर्तिलता में ही नहीं विद्यापति की पदावली, वर्णरत्नाकर में भी पाया जाता है।

विद्यापति की पदावली के उदाहरण दिए जाते हैं।[2]

उदअँ कुमुद जनि होए (कर्ता)
सखि बुझावए धरिए हाथँ (कर्म)

---

१. शुक्ल रामचन्द्र, जायसी ग्रंथावली भूमिका पृ० २५३. ५४

२. शिवनन्दन ठाकुर द्वारा विद्यापति की भाषा पृ० ६ पर उद्धृत

ते त्रिहुँ करु मोर सम अवधान (करण)
कमलें झरए मकरन्दा (आपादान)
अथिरेँ मानस लाव अधिकरण)

वर्णरत्नाकर में भी चन्द्रविन्दु विभक्तियों के रूप में व्यवहृत हुआ है।

सेवाँ वइसलि छवि पृ० ८ (अधिकरण)
वांच प्रभात ज्ञान कराओल

चर्यागीतों में भी कुछ लोग चन्द्रविन्दु के रूप में विभक्ति का प्रयोग मानते हैं,[1] परन्तु मुझे कोई ऐसा प्रयोग नहीं मिला। चर्यागीत के प्रयोग का शिवनन्दन ठाकुर ने निम्न उदाहरण दिया है।

विसअ विशुद्धिमइ वुज्झिअ आनन्दे (चर्या ३०)

विसअ का 'विषमाणां विशुद्धा' अर्थ टीकाकार ने किया है। इसके आधार पर चन्द्रविन्दु की कल्पना तो ठीक नहीं है क्योंकि निर्विभक्तिक प्रयोग अवहट्ट में विरल नहीं है। चर्या में विसअ पर चन्द्र विन्दु नहीं है।

शिवनन्दन ठाकुर ने इसकी व्युत्पत्ति एं से की है और कहा है एं ही शायद लोप होकर चन्द्रविन्दु के रूप में अवशिष्ट रह गया।[2]

विद्यापति की पदावली के उदाहरण सभी कारकों में हैं; किन्तु उनमें अधिकरण और कर्म को छोड़कर बाकी बहुत विश्वसनीय नहीं लगते। बिना चन्द्रविन्दु के भी तृतीया लगता है।

इन प्रयोगों को देखने से मालूम होता है कि ये केवल दो कारकों में ही आए हैं। अधिकरण और कर्म में। कर्म में कम और अधिकरण में अपेक्षाकृति अधिक इसे या तो अनुनासिक मान लेना चाहिए या अधिकरण या कर्म के 'अम्' का विकसित रूप। आज भी भोजपुरिया में बोलते हैं :

बलियाँ गइले, गाँवें गइले

यह ग्रामम् और बलियाम् का ही विकसित रूप जान पड़ता है।

§२७ विभक्ति लोप : अवहट्ट भाषा की विशेषता वाले अध्याय में दिखाया गया है कि लुप्तविभक्तिक प्रयोगों का बाहुल्य मिलता है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में कुछ कारकों में ही विभक्ति लोप बताया है, पर अवहट्ट में प्रायः सभी

---

१. वही पृ० २१५, २. महाकवि विद्यापति पृ० ६

कारक में विभक्ति लोप के उदाहरण मिलते हैं। कीर्तिलता के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

कर्ता	काइं तसु कित्ति वल्लि पसरेइ (१।१)
	दुज्जन बोलइ मंद (१।५)
	सकल पृथ्वी चक्र करे ओ वस्तु विकाएँ आएँ दाज
कर्म	पहिल नेआला खाय जव (२।१८२)
	महुअर बुज्झइ कुसुम रस (१।१७)
	धनि छड्डिअ नव यौव्वंना (२।५७)
करण	भुवन जग्गइ तुम्ह परताप (३।२६)
	मकरन्द पाण विमुद्ध महुअर सद मानस मोहिआ (२।८२)
सम्प्रदान	ताकुल केरा वड्डिपन कहवा कवन उपाय (१।५४)
	दिग्विजय छूट (४।२०)
सम्बन्ध	सुरराय नयर नायर रमनि (२।६)
	हरिशङ्कर तनु एक्कु रहु (४।१२६)
अधिकरण	भोगीसतनय सुपसिद्ध जग (१।६६)
	वप्प वैर निज चित्त धरिअ (२।२५)
सम्बोधन	मानिन जीवन मान सञो (१।२४)
	कहानी पिय कहहु (२।३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कीर्तिलता में प्रायः सभी कारकों में निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं।

परसर्ग

§ ३८—संहिति प्रधान होने के कारण संस्कृत भाषा में परसर्गों का अभाव है। संस्कृत में कुछ शब्द अवश्य मिलते हैं जिनका परसर्गवत् प्रयोग होता था। समीपे, पार्श्वे, अन्तिके, उपरि आदि बहुत से शब्द मिलेंगे। कालान्तर में भाषा में परिवर्तन होने से, विभक्तियों के घिस जाने, अथवा लुप्तविभक्तिक प्रयोगों के बढ़ने या एक ही विभक्ति के कई कारकों में होने वाले प्रयोगों से उत्पन्न भ्रम के निवारण के लिए परसर्गों का प्रयोग होने लगा। पहले इन शब्दों का अपना अर्थ होता था बाद में ये द्योतक शब्द मात्र रह गए। परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश काल में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश काल के परसर्ग बहुत कुछ द्योतक शब्द ही हैं इनकी व्युत्पत्ति करते समय हम इनके मूल शब्दों पर पहुँचते हैं पर इस विकास-क्रम को समझने के लिए बीच के स्तरों का कोई आधार नहीं मिलता।

उदाहरणार्थ कक्षम् से 'को' तक पहुँचने में कब क्या परिवर्तन हुए इसका आधार भाषा में प्राप्त नहीं है। कीर्तिलता में अपभ्रंश के परसर्ग मिलते अवश्य हैं किन्तु उनके अतिरिक्त बहुत से नए शब्द परसर्ग के रूप में दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश की चतुर्थी के प्रसिद्ध परसर्ग 'केहि' और 'रेसि' अब कीर्तिलता में नहीं मिलते। पुराने परसर्गों का भी बड़ा विकास हो गया है।

§ ३६—करण कारक के परसर्ग : कीर्तिलता में करण कारक का मुख्य परसर्ग सञो है। यह सञो अपभ्रंश सउं का ही रूपान्तर है। इसके अलावा दो तरह के और परसर्गों का प्रयोग मिलता है। सथ्थ, सथ्थहिं आदि साथ सूचक और सन, सम, समान, पमान आदि समता सूचक।

१. सथ्थे सत्थहिं यह 'सत्थ' शब्द के अधिकरण के रूप हैं। कीर्तिलता में इनका प्रयोग निम्न प्रकार हुआ है।

१. साथहिं साथहिं जाइआ (२।६३)

२. मत्त मतगंज पाछु होथ फरिआइत सथ्थे (४-६८)

२. सम, सन, समान, पमान यह समता सूचक परसर्ग है। संस्कृत में यह 'रामेण समम्' आदि रूपों में आता है। इस आधार पर इसे तृतीया का परसर्ग माना जाता है। कीर्तिलता में इसके उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं।

उज्जम्मिअ उप्पन्नमति कामेसर सन राय (१।५५)

जो आनिअ आन कपूर सम (२।१८५)

थल कमलपत्त पमान नेत्तहिं (२।८७)

सन का प्रत्यय बाद में समता सूचक न रह कर साथ सूचक हो गया।

एहि सन हठि करिहौं पहिचानी　　　　(तुलसी)

बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन हम तुमसों कछु घाटि　　　　(तुलसी)

३. संस्कृत के प्रभाव के कारण कीर्तिलता में समतासूचक संस्कृत शब्दों को परसर्गवत् व्यवहृत किया गया है। प्राय, संकास प्रभृत्ति आदि।

समुद्र फेण प्राय यश उंद्धरि दिगन्त विथ्थेरेओ (१।८८)

वित्थरिअ कित्ति महि मंडलहिं कित्ति कुसुम संकास जस (१।६१)

मंडली प्रभृति नाना गति करन्ते (४।५०)

४. सञो—यह करण कारक और अपादान दोनों में समान रूप से व्यवहृत होता है। नीचे करण कारक के उदाहरण दिये जाते हैं।

असवार असिधार तुरअ राउत सञो टुट्टइ (४।१८४)

मानिनि जीवन मान सञो वीर पुरुष अवतार (१।२२)

सञो भी समम् का ही विकसित रूप है। सञो का ही रूप अपभ्रंश में सउं, ढोला में सिउं, वर्णरत्नाकर में सञो और सं के रूप में दिखाई पड़ता है।

§४० **सम्प्रदान के परसर्ग**—हेमचन्द्र के बताए हुए चतुर्थी के परसर्ग रेसि और केहि कीर्तिलता में नहीं पाए जाते। कीर्तिलता में इस कारक में तीन नए परसर्गों का विकास हुआ है। लागि, काज और कारण।

१. लागि : लागि का प्रयोग कीर्तिलता में हुआ है। नीचे इसका उदाहरण दिया जाता है।

तबे मन कर तेसरा लागि (२।१४०)

लागि या लग्गि की व्युत्पत्ति संस्कृत लग्ने से मानी जाती है। सं लग्ने 7 प्रा॰ लग्गे 7 और बाद से लग्गि 7 लागि यह इसके विकास का क्रम मालूम होता है। अवधी और ब्रज आदि में भी यह लागि या लाग प्रयुक्त होता है।

केहि लागि रानि रिसानि (तुलसी)

विद्यापति की पदावली में भी यह प्रयोग विरल नहीं है।

दरसन लागि पूजए नित काम

तोहरा प्रेम लागि धनि खिन भेल।

२. काज : यह परसर्ग कार्य से बना है।

सरवस्स उपेक्खिय अम्ह काज (४।१२४)

सामि काज संगरे (४।२४)

३. कारण का भी सम्प्रदान में प्रयोग होता है।

गाह भरिअ वीर जुज्झ देक्खह कारण (४।११०)

पुन्दकार कारण रण जुज्झयी (४।७५)

कारण परसर्ग वर्णरत्नाकर में भी प्रयुक्त हुआ है।

साजन कारण रजाएल भउ (४७ ख, वर्णरत्नाकर)

§ ४१ **अपादान के परसर्ग**—अपादान के परसर्ग-रूप में कीर्तिलता में सञो और 'हुँते' दोनों का प्रयोग हुआ है।

१. सञो की व्युत्पत्ति पहले ही बतायी जा चुकी है। अपभ्रंश काल में भी सउं करण और अपादान दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। सञो के अपादान प्रयोग कीर्तिलता में मिलते हैं।

१. विन्ध्यसञो (४।२४) २. दीठि सञो पीठि दए (४।२४६)

२. हुंते या हुंति : इसका प्रयोग कीर्तिलता में केवल दो बार हुआ है।

(१) **दुरुहुन्ते आओ बड बड राओ** (२।२१८)

(२) याश्राहुतह परस्त्री का बलया भांग (२।१०१)

हुंते या हुतः अपभ्रंश 'हुन्तउ' का ही विकसित रूप है। हेमचन्द्र के उदाहरणों से स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि होन्तउ पञ्चमी परसर्ग है। तहाँ होन्तउ आग दो (हेम ८।४।३५५) का अर्थ वहाँ से होता हुआ आया ही किया जायेगा 'होन्तउ' वस्तुतः भूत कृदन्त का रूप है। यद्यपि इसका प्रयोग परसर्गवत् होता है।

३—हिसिं हिंसि दाम से (४।३७) खोद खुन्दि तास से (४।३८) में 'से' परसर्ग दिखाई पड़ता है जो अपादान और करण दोनों का परसर्ग कहा जा सकता है।

§४२ सम्बन्धकारक के परसर्ग—कीर्तिलता में सबसे अधिक प्रयोग सम्बन्धकारक के परसर्गों का हुआ है और वे भी विविध रूपों में। नीचे उदाहरण दिए जाते हैं।

१. साहि करो मनोरथ पूरेओ (१।८०)
२. उत्तम कां पारक (२।१३)
३. दान खग्ग को मम्म न जानइ (२।३८)
४. लोअन केरा वल्लहा (२।७८)
५. मछहटा करेओ सुख रव कथा कहन्ते (२।१०३)
६. पयोधर के भरे (२।१४७)
७. कल्लोलिनी करो वीचिविवर्त (२।१४४)

सम्बन्ध के इन सभी परसर्गों क, करो, को, कां, केरा, करेओ, के, का, आदि की व्युत्पत्ति पहले ही 'क' परसर्ग के प्रसंग में ही दे चुके हैं। इन सभी की उत्पत्ति कार्य>प्रा० कज्ज>केरा करेउ रूपों में मानी जाती है। अन्य प्रकार के मत भी पहले ही दिए जा चुके हैं। इन परसर्गों में पूर्ववर्ती संज्ञा शब्द, जिसके साथ ये लगते हैं, वचन लिंग का विधान उसी शब्द के अनुसार होता है। सम्पर्की सानुनासिकता के कारक का काँ हो जाता है [देखिए टिप्पणी १३]

§४३ अधिकरण के परसर्ग—कीर्तिलता में सप्तमी में खास कर दो परसर्गों का बहुत प्रयोग हुआ है, मांझ और उप्परि का। भीतर का भी प्रयोग हुआ है।

१. मांझ : युवराजन्हि मांझ पवित्र (१।७०)
मांझ संगाम भेट्ट हो (४।१८२)

मांझ की उत्पत्ति मध्ये से हुई है। अपभ्रंश में मांझ का रूप मज्झ होता है।

अवधी ब्रज के मंह माझ, मझारी, तथा खड़ी बोली का 'में' सब रूप इसी से विकसित होकर बने हैं।

२. उप्परि : १. राअ सब्बे नअर ऊप्परि (२।१२३)
२. ध्रुवहु उप्पर जा (२।१३०)
३. महिमंडल उप्परि (२।२३२)
४. तसु उप्परि करतार (२।२३७)

३. मुहु भीतर जबहीं' (२/१८२) में भीतर का भी उदाहरण मिलता है। रासो के पुरातन प्रबन्ध संग्रह वाले छप्पयों में एक में भितरि का प्रयोग मिलता है।
भितरि सडिहडिउ पु० प्र० (८७/२७५)

§४४ सर्वनाम

सर्वनामों के मानी में कीर्तिलता प्रर्याप्त धनी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से सर्वनामों का विशेष महत्त्व है क्योंकि ध्वनि सम्बन्धी विकीर्णता के साथ शीघ्र रूप परिवर्तन भी इनमें दिखाई पड़ता है। नीचे कीर्तिलता के सर्वनामों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

पुरुष वाचक सर्वनाम

उत्तम पुरुष

	एक वचन	बहुवचन
कर्ता	हओ (४।४) हों (१।३६)	×
कर्म	×	
करण	×	
सम्प्रदान	×	
अपादान	×	
सम्बन्ध—	मोर (२।३२) मो (३।६८) मुज्झु (३।१३०) मोरहु (२।४२) मम (२।४८) मझु (३।१५)	अम्ह (३।१३५)
अधिकरण—	महु (४।२२३) मोजे (१।३)	

उत्तम पुरुष के रूप केवल दो कारकों में ही प्राप्त होते हैं। इनमें हओ या हौं अहकम् से विकसित हुआ है।

मझु, मुज्झु मज्झु आदि रूपों का विकास इस प्रकार हुआ है

सं० मह्यम् > प्रा० > मह्यं > मज्झु > मुझ।

मोर, मोरहु आदि रूप निःसन्देह बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। ये रूप वस्तुतः

विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं। अतः इनके साथ आने वाली संज्ञा के लिंग वचन के अनुसार इनमें भी परिवर्तन होता है।

प्रा० मह केरो > म्हारो > मारो > मेरा आदि रूपों से इनका विकास संभव है।[1] मो का सम्बन्ध बीम्स मम से बतलाते हैं। प्राकृत मह ही अपभ्रंश का महु है।[2] बहुवचन रूप अम्ह <अप० अम्हे <पा० अम्हे सं० अस्मे से विकसित हुआ है।

§४५- मध्यम पुरुष

	ए० व०	बहु० वच०
कर्ता—	तोञे (४।२५०) तुम्हे, (३।६०) तोहें (३।६१)	...
कर्म—	तुम्हे (३।३०) तोहि (४।२५१) तोके (३।२५)	...
करण	×	...
सम्प्र०	तुज्झ (४।२४६)	...
अपा०	×	...
सम्बन्ध—	तुम्हे, (३।३१) तुम्ह (३।२६) तुज्झ (३।२२)	...
अधि०	×	...

तोञे < प्रा० तुमं < सं० त्वम्। तोहि > प्रा० तो < तव। मोहि मोरा की तरह इसमें 'हि' या रा लग कर तोहि तोरा बनता है। तुज्झ की उत्पत्ति प्राकृत षष्ठी के तुह के रूपान्तर तुज्झ से मानी जा सकती है। तुम्ह स्पष्टतया सं तुस्मे* > प्रा० तुम्हे > अप तुम्ह से विकसित हुआ है। तोके में कर्म का परसर्ग 'के' है और तो संस्कृत तव का रूपान्तर है।

§ ४६ प्रथम पुरुष

	ए० व०	बहु० व०
कर्ता-	सो, (११६) तौन ३।२३	ते (४।११८) तन्हि, तान्हि (१।७०)
कर्म-	ताहि (२।६५), तं (२।५)	
करण-	तेन (२।२)	तेन्हे (३।१५४)
सम्प्र०	×	
अपा०	×	×
अधि०	×	

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा हि० भा० इति०

२. बीम्स० क० गै० भाग २§६३

सम्बन्ध तिसु (३।१४४) तेन्हि (३।४५)
तसु (२।१२५) तासु (१।६२)
ता (१।५४)

ये सभी रूप संस्कृत 'तद्' के विभिन्न रूपों से विकसित हुये हैं। सः का ही रूप सो है। तन्हि तान्हि तेन्हं आदि रूपों में 'न्हि' विभक्ति लगी है जो कीर्तिलता में बहुवचन सूचक है [देखिए § २६] इन रूपों के साथ परसर्ग का प्रयोग करते हैं। ये रूप सीधे किसी कारक में नहीं आते। ते (कर्ता बहु) की उत्पत्ति संस्कृत तेभिः7 प्रा० तेहि 7 अप० ते के रूप में हुई है। कर्म ताहि के साथ कर्म की दो विभक्तियाँ लगी हैं। इसकी उत्पत्ति स० ताधि*7 ताहि7 ताइ 7 ताइ के साथ 'हि' विभक्ति के संयोग से हुई है। तेन संस्कृत तेण है।

§ ४७—निश्चयवाचक सर्वनाम—ये सर्वनाम निर्दिष्ट वस्तु के स्थान भेद से दो तरह के होते हैं।

१—निकटवर्ती निश्चय २—दूरवर्ती निश्चय।

निकटवर्ती निश्चय—कीर्तिलता में इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

१—ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ (१।१२) २—एहि दिन उद्धार के (२।७६)

३—एही कार्य छल (२।२४१) ४—एहु पातिसाह (२।२३७)

ई स्त्रीलिंग इयम् का विकसित रूपान्तर मालूम होता है। डा० चटर्जी का कहना है कि संस्कृत में इस प्रकार के दो सर्वनाम पाये जाते हैं। पहला एत् जिसका पुल्लिङ्ग रूप एषः स्त्रीलिंग एषा और नपुंसक लिंग का रूप एतद् होता है। दूसरा इद्म जिसका पुल्लिंग में अयम् स्त्रीलिंग इयम् और नपुंसक में इदम् ये तीन रूप होते हैं।[1] हेमचन्द्र ने एहो और एहु का प्रयोग किया है उनके मत से एतद् का एहो पुलिंग का, और एहु नपुंसक लिंग के रूप हैं।[2] इस प्रकार हम ई को इयम् का (स्त्री) और एहु को एतद् (नपु) का विकसित रूप मान सकते हैं।

२—दूरवर्ती निश्चय—

ओ परमेश्वर हर सिर सोहइ (१।११) ओहु राओ विअक्खण (३।६०) ओ और ओहु ये दोनों रूपों की वास्तविक व्युत्पत्ति पर मतभेद है। संस्कृत में ओ का प्रयोग अव्यय रूप में हुआ है। कीर्तिलता में भी ओ (२।७१) अव्यय रूप में

---

१. चटर्जी व० लै० §४६६

२. हेमचन्द्र ८।४।३६८

प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्र ने ओइ और ओ का प्रयोग किया है (८।४।३६४) ओ (८।४।४०१) हेमचन्द्र ने इसे अदस का रूप माना है। असौ 7 अहौ 7 ओह > ओउ चटर्जी इसे सर्वनाम स्वीकार करते हैं। डा० पी० यल० वैद्य ने अं सूचनायाम्' के संकेत से इसे अव्यय ही पाना है।[१] ओकरा (२।१३०) में अं के साग करा परसर्ग का भी प्रयोग हुआ है।

§ ४८ सम्बन्ध वाचक सर्वनाम—

	ए० व०	व० व०
कर्ता—	जओन (२।७६) जे (१।४३) जो (१।१६)	×
कर्म—	×	
करण—	जेन (१।३६) जेन्ने (१।६४) जेइ (१।५४)	×
सम्प्रदान०	×	
अपा०	×	
अधिक०	×	×
सम्बन्ध—	जस्स (१।३४) जसु (२।२१३) जासु (१।२६) जेहे (२।६३)—	जन्हि के (२।१२८)

ये यद् के ही भिन्न रूप हैं। यः का रूप जो है। कः पुनः > कवण > कओन के ढंग पर यः पुनः>यवण>जओन। जिसका अर्थ जौन है पूर्वी बोलियों में यह अब भी 'जवन' कहा जाता है। बाबूराम सक्सेना जओन को जेमुन से व्युत्पन्न मानते हैं। (कीर्तिलता पृ० ४१ न० सं०) जेण का ही रूप जेन और जेन्ने हैं। जेन्ने में एन विभक्ति दो बार लगी हुई है। यस्य के रूप जसु जासु आदि हैं। जे मागधी प्रभावित हैं।

§४९ प्रश्न वाचक सर्वनाम—

	ए० व०	बहु० वच०
कर्ता	कमन (४।२४३) कवणे (२।२२७) किं (२।२)	×
	कओण (३।१६) को (१।१४६) की (१।२३)	×
करण	केण (४।६७) केन (४।१४३)	×

हेमचन्द किम् से काइं और कवण की उत्पत्ति मानते हैं। (२।४।३६७)

---

१. प्राकृत व्याकरण पृ० ६६५

ऐसा विश्वास किया जाता है कि लौकिक संस्कृत में एक ही प्रश्न वाचक किम् वैदिक संस्कृत में दो रूप रखता था कत् और किम्। कच्चित् में यही कत् है जिसका रूप तद् के समान चलता था। परवर्ती आर्यभाषाओं में क और किम् दोनों के विकास हैं कदर्थ वाचक कापुरुष कत्+पुरुष है और किंनर किंसरवा या किंपुरुष में किम् दिखाई पड़ता है। हार्नली कवन की उत्पत्ति अपभ्रंश केवड़ु से मानते हैं। किन्तु केवड़ु संस्कृत कति से माना जाता है। चटर्जी इसे किं+पुनः से उत्पन्न मानते हैं।

§ ५० अनिश्चय वाचक : कीर्तिलता में अनिश्चयवाचक सर्वनाम के कोए, कोइ, काहु, केहु और कछु का प्रयोग हुआ है।

१. मित्त करिअ सब कोए (११७)

२. कोइ नहिं होइ विचारक (२।१२)

३. काहु सम्बल देल थोल (३।६६)

४. काहु काहु अइसनों संक (२।१३०)

५. आन किछु काहु न भावइ (२।१८७)

अनिश्चयवाचक सर्वनाम कोऽपि के विकसित रूप हैं। संस्कृत कोऽपि प्रा० कोवि अपभ्रंश में कोवि के रूप में दिखाई पड़ता है। यही कोउ कोइ, कोए, के रूप में बदल गया है। पुरानी हिंदी में कोउ रूप भी मिलता है जो कोऽपि से ही बना है। उसी प्रकार सोऽपि से सोऊ तथा योऽपि से जोऊ बने हैं। आन का मूल रूप अन्य है।

किछु शब्द किंच हु के योग से बना है। हार्नली उसकी उत्पत्ति प्राकृत के सम्भावित रूप कच्छु से मानते हैं।

§ ५१ निजवाचक सर्वनाम : कीर्तिलता में निजवाचक सर्वनाम के रूप में अपने, स्वयं और निज इन तीन शब्दों का प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश की दृष्टि से ये बहुत पीछे के और बहुत अंशों में आ० भा० आ० काल के लगते हैं।

१—अपन (२।४८) अपने (२।१२०) अपनेहु (३।३८) अप्पा (४।१८०) अप्प (२।११८)

२—निअ (२।२२६) निज (२।२२६) णिअ (१।४०)

३—पुर पुर मारि सञो गहञो (२।४१)

अपने <अप्प <आत्मन् संस्कृत का रूप है। इसका प्रयोग आदरार्थ सूचक रूप में भी होता है।

सञो—संस्कृत स्वयम् का ही रूपान्तर है।

निज—मूल रूप संस्कृत से ही आया है। इसका अपभ्रंश रूप निअ,

खिज भी होता है।

§५२ अन्य सर्वनामों में सव्व प्रमुख है।

सव्वउँ नारि विअक्खनी सव्वउं सुस्थित लोक (२।१५२)

सव्वउँ केरा रिजु नयन (२।११६)

यह सव्व या सव प्रायः बहुवचन की सूचना के लिए आता है। इसका एक रूप 'सवे' भी है। सवे किछु किनइते पावथि। यह कर्ता के मागधी एकारान्त का प्रभाव है।

२. आण, अओका ये दो शब्द भी कीर्तिलता में आये हैं।

१. आण करइते आण भउ (३।४६)

२. आण कछु काहु न भावइ (२।१८७)

३. अओका एक्क धम्मे अओका उपहास (२।१६३)

संस्कृत अन्य> पाली अन्न> आण के रूप में दिखाई पड़ता है। अओक शब्द विद्यापति की पदावली में भी आया है।

कटिक गौरव पावोल नितम्ब एक करवीन अओक अवलम्ब। वर्णरत्नाकर में (पृष्ठ ४५) पर इसका प्रयोग हुआ है। यह शब्द अपरक>अओक के रूप में संभव है। सगरे राह रोल पडु में सकल का सगरे रूप मिलता है। इतर का इअरो रूप प्रथम पल्लव की गाहा में आया है।

§ ५३ विशेषण :

कीर्तिलता में विशेषणों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ तो संज्ञा से बने विशेषण हैं कुछ क्रियाओं से। कृदन्तज विशेषणों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें विशेष्य की तरह ही लिंग वचन का निर्धारण होता है। कृदन्तज विशेषणों के अलावा अन्य विशेषणों में भी लिंग का निर्धारण दिखाई पड़ता है।

१—अग्गिम (३।३६<अग्रिम); आड़ी दीठि (२।१७७=वक्र दृष्टि) उत्तम (२।१३); काचले नयने (४।४६=काचल, चमकीले); काँच (४।७६= कच्चा) कित्तिम (२।१३१∠कृत्रिम) किरिस (३।१०८∠कृश); गरिट्ठ (१।७६∠ गरिष्ठ) गरुअ (३।१३∠गुरुक); गरुवि (२।१८६७∠गुरु (!) (स्त्री); गाढिम (४।११२∠गूढ़) चङ्गिम (४।२३०=सुन्दर); चरस (२।१८७∠चक्र !); चांगु (४।४५=चंगा); चारु कला (४।२३०); छोटाहु (३।६३∠क्षुद्र) जुवल (३।३५∠ युगल) जूठ (२।१८८∠उच्छिष्ट); जेठ (२।४२∠ज्येष्ठ); झूट २।१०४< उच्छिष्ट !) ततत (२।१७८<तप्त !) तातल (२।१७५<तप्त); तीखे (४।४६<

तीद्व) तेतुली (२।२८) थोल (३।८७=थोड़ा) देसिल (१।२१<देशी) नव यौवना (२।५७) निद्राए (२।२६) नीक (२।४७<नेक) नीच (२।४७) पवित्ती तिरहुत (४।२<पवित्री) पिच्छल (४।२१८) पेपणी (२।१३८) फुर (१।२३< स्फुट) वङ्क (२।११६) बड़ (३।१०४) बड़ा (३।४२) वड्डिम ४ (१।६५) बड़ी (२।१४४) वड्डे ओ (२।८४) वाकुले (४।४५<वक्र) विग्र ष्खवण (३।६०<विचक्षण) मन्द (२।१८) रूसलि (१।८६=रुष्ठ) सिमान (२।२४८=सज्ञान)

२—सर्वनामिक विशेषण—

पुरुष वाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामों को छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी इस वर्ग में दो मुख्य रूप से सर्वनामिक विशेषण माने जाते हैं।

क—अइस(< ऐस हेमचन्द्र (८।४।४०३) प्रकार सूचक

अइस (२।५२) अस (२।१७) ऐसो (४।१०५)

कइसे (२।१४६) जइसओ (१।३०) तइसना (३।५२)

ख—एत्तिय—एवडु और एत्तुल हेम० (८।४।४०७) परिमाण सूचक

एत्ता (३।१२८) एत्ते (१।३१)

कत (३।१५०) कतन्हि (४।६०) कतहु (२।१६४)

कत्त (३।१३८)

§५४ संख्या वाचक विशेषण—संख्या वाचक विशेषण का इतिहास बड़ा ही विचित्र और मनोरंजक है। इसमें कालानुक्रम से विकसित इतिहास का कोई भी पारंपरिक रूप नहीं मिलता। डा० चटर्जी की राय है कि ये विशेषण आर्य भाषाओं में अन्य विशेषणों के समान संस्कृत और प्राकृत से होकर आए हुए नहीं मालूम होते। ऐसा लगता है कि समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विशेषण पाली या मध्यकालीन आर्यभाषाओं के सदृश किसी सर्वप्रचलित भाषा से आए हुए हैं। कुछ रूपों में प्रादेशिक प्राकृतों और अपभ्रंश की छाप संभव है। जैसे गुजराती वे 'मराठी' 'दोन', 'बंगाली' दुई।[१] कीर्तिलता में प्रयुक्त संख्या वाचक विशेषणों का विवरण नीचे दिया जाता है।

§५५ पूर्णसंख्यावाचक—कीर्तिलता में पूर्ण संख्या वाचक विशेषणों का कुछ प्रयोग हुआ है। उनके उदाहरण और विकास की संभावित अवस्थाएँ नीचे दी जाती हैं।

---

१. चटर्जी, वैं० लैं० § ५११

१. वेवि सहोदर (२।५०) वेवि 'दोनों' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में इसके लिए द्वौ और प्राकृत में 'दो' शब्द मिलते हैं। यह शब्द उभयेपि से बना है। द्वौ का 'वे' या 'वा' रूप केवल संयुक्तसंख्याओं में दिखाई पड़ता है। वाइस, वत्तिस, वासठ, वानवे में वा या व इसी के अवशिष्ट अंश मालूम होते हैं। पाओ चलि दुअओ कुमर (२।५६) में द्वौ[1] का 'दो' रूप भी प्राप्त है।

२. एक : एक या एक प्राकृत एक ∠ संस्कृत ∠ एक से विकसित हुआ है। कीर्तिलता में नारि के विशेषण के रूप में एक का स्त्रीलिंग 'एक्का' कर दिया गया है। एक्का नारि (३।२७)

३. वेद पढ़ तिन्नि (१।४६) तिन्नि का विकास क्रम इस प्रकार माना जाता है।

सं० त्रीणि 7 प्रा० तिण्णि 7 अ२० तिन्नि

कीर्तिलता में इसका एक रूप तीनू भी मिलता है।

तीनू उपेष्खिअ (२।३६) एक स्थान पर तीनहु (१।८५) भी मिलता है। वस्तुतः वे दोनों तिन्न या तीन के द्वितीया के रूप हैं जिनमें उ या हु विभक्तियाँ लगी हैं। हु अव्यय के रूप में भी माना जा सकता है 'तीनो ही' के अर्थ में।

४. चारी (३।१४२) और चारु (४।४६) ये चार के दो रूप मिलते हैं।

५. पंच (२।४) संस्कृत पंच का रूप है। उसी प्रकार सात (२।२४३) सप्त का, दसओ (१।६३) दश का और बीस (४।७८) विशंति के रूपान्तर हैं।

६. अट्ठाइस (२।२४४) अट्ठाइस<अट्ठावीस<अष्टाविशंति

७. सए (२।३२) संस्कृत शत>प्राकृत सय से बना है। य का ए कीर्तिलता की एक विशेषता है।

८. सहस (३।१५०) संस्कृत के सहस्र का विकास है।

६. हजारी मअंगा : (२।१५६) सहस्र और हज्र एक ही मूल एंडो एरियन के विकास हैं। हज्र ही परवर्ती हजार हैं। सहस्त्र का अर्थ अनन्त है।

१०. लष्ख संख (४।४३) लक्षावधि (४।६) : लष्ख लक्ष का ही भ्रष्ट लेखन का परिणाम है। संस्कृत में लक्ष चलता है जो लक्षावधि में वर्तमान है। कीर्तिलता में ये पूर्ण संख्या वाचक विशेषण पाए जाते हैं।

§ ५६—अपूर्ण संख्यावाचक : अपूर्ण संख्या वाचक विशेषण कीर्तिलता में एकाध ही मिलते हैं।

१—योजन बीस दिनद्धे धावथि (४।७८)

यह 'अद्धे' संस्कृत अर्द्ध का रूपान्तर है।

३—त्रितीय भागे तीन भुवन साह (२।१४७) त्रितीय<तृतीय

§ ५७—**क्रमसंख्या वाचक :**

प्रथम>पढम : तम्मह्नु मासहि पढम पष्ख (२।५)

यह 'पढम' प्रथम का परिवर्तित रूप है। प्रथम पढम इस में थ का मूर्धन्यीकरण हो गया है।

२. पहिल नेवाला खाइ (२।१८२)

धीरेन्द्र जी ने पहिल की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार रखा है। पहिला <प्रा० पढिल्ल*<पथिल्ल*<सं० प्रथइल*।' वीम्स ने पहिल की उत्पत्ति प्रथम या प्रथर से माना है।[1]

३. दोसरी अमरावती क अवतार भा (२।६६)

४. तीसरा लागि तीनू उपेष्खिग्र (२।१४०)

वीम्स इन शब्दों का सम्बन्ध स. द्वि+सृतः, त्रि+सृत, से जोड़ते हैं।[2] द्वितीय तृतीय से इनकी उत्पत्ति संभव नहीं है कि क्योंकि इनके विकसित रूप दूसरा तीसरा नहीं दूजा तीजा हो सकते हैं।

५—पंचम (१।५८) <पंचम से विकसित है।

§५८ : **आवृत्ति संख्यावाचक :** कीर्तिलता में एक शब्द आता है 'सथि' दस सथि मानुस करो मुँड (४।२३)

यह 'सथि' गुणवाचक है। संस्कृत का शतिक शायद इसका मूल रूप हो।

§५६ **समुदाय संख्यावाचक :**

कीर्तिलता में एक प्रयोग वेण्डा मिलता है।

वे भूपाला मेइनी वेण्डा एक्का नारि (३।२७)

अर्थात् दो राजाओं की पृथ्वी और दो पुरुष की एक नारि। सोचना है कि इस वेन्डा की उत्पत्ति में समुदायक वाचक गंडा कहाँ तक सहायक है।

गण्डञ्जे गणिग्र उपास (३।११४)

का अर्थ गण्डों में (चार चार दिन) गिन कर उपवास करने लगे।

यहाँ 'गण्डा' शब्द भी मिलता है।

---

१. हि० भा० इति० § २८०

२. वीनस क० ग्रा० भाग २ § २७।

§६० क्रिया—

मध्यकालीन आर्यभाषा काल में संस्कृत क्रियाओं के रूप में आश्चर्य जनक परिवर्तन उपस्थित हो गए। संस्कृत के गण-विधान का पंजा ढीला पड़ गया। विकरण के आधार पर सस्कृत में गणों का निर्माण हुआ किन्तु इस काल में—अ वर्ग के अन्दर ही सभी प्रकार के धातुवर्ग समाहित हो गए। कीर्तिलता में न केवल शब्दों में ही संस्कृत के प्रभाव से तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है बल्कि क्रियाओं में भी संस्कृत की धातुओं की (अकारान्त रूप में ही) प्रचुरता दिखाई पड़ती है। कीर्तिलता एक ऐतिहासिक काव्य है इसलिए लेखक प्रायः इसकी कथा को मूलतः 'बीती हुई कथा' के रूप में ही सुनाता है इसलिए भूत-काल के प्रयोग निःसन्देह सर्वाधिक हुए हैं, किन्तु कथा क्रम में वह वर्णनों का जब सहारा लेता है ऐतिहासिक वर्तमान की क्रियाएँ भी प्रचुर मात्रायें उपलब्ध होती हैं। ये क्रियायें अर्थतः भूतकाल की ही सूचना देती हैं परन्तु इनका रूप वर्तमान का ही होता है।

§६१ वर्तमान काल—

संस्कृत और मध्यकालीन आर्यभाषा की वर्तमान काल (लट् रूप) की क्रियायें विकसित रूप में दिखाई पड़ती हैं। इनमें जैसा कहा गया कोई गण-विधान या विशेष रूप नहीं होते, सकर्मक अकर्मक का भी कोई खास भेद नहीं किया गया है। कीर्तिलता में इनका स्वरूप इस प्रकार मिलता है :

	ए० व०	बहु वचन
उत्तम—	करओ, करउँ	×
मध्यम—	करसि, करहि	×
अन्य—	करइ, करए, कर, करथि, करै	करन्ति, हिं, करहिं

करओ (२।२०) कहओ (३।१३८) जम्पओ (१।८१) परबोधओ (१।३०) आदि रूपों में-ओ तथा कहउँ (१।३६) किक्करउँ (३।११४) आदि में—उं का प्रयोग हुआ है। चटर्जी के अनुसार करउँ प्राचीन करोमि रूप पर आधारित है। करोमि के अन्त्य इ के ह्रास के कारण यह रूप करोमि> करोवि> करउँ> करओ आदि रूपान्तर को प्राप्त हुआ है। प्राचीन कुर्मः> करामह> म० का० करोमो> करउँ के रूप में भी यह विकास संभव है। [उक्ति व्यक्ति § ७१]

भणसि (४।२५०) जासि (४।२४५) जीवसि (२।२४८) आदि रूपों में

सि विभक्ति को प्राचीन लट् के मध्यम पुरुष की 'षि' विभक्ति का विकास समझना चाहिए ।

वर्तमान काल में सबसे महत्त्वपूर्ण रूप अन्य पुरुष के दिखाई पड़ते हैं । §६२ **करइ कर और करए**—इस तरह के रूपों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं

अइ—अंगवइ (२।२२) उपेष्खइ (३।१३४) उफ्फलइ (४।१८३) कम्पइ (२।२२६) गणइ (३।७५) चित्तइ (३।११५) जुज्झइ (१।४८) धँसमसइ (४।५६) धुन्नइ (२।१८) नवइ (२।२३४) पज्जटइ (२।६३) पड़इ (३।६६) पावइ (१।२०)

अ—कह (२।११७) चाट (२।२०४) चाह (२।१४७) निकार (२।२१०) निहार (२।१७७) पछुवाव (४।५५) पाव (२।१८६) भर (३।२८) चूह (२।८०) छाज (२।२४२) छाड (२।१५१)

अए—अछए (३।१३१) आनए (२।२०२) करावए (३।२८) कोहाए (२।१७५) गणए (४।१०७) जाए (२।४१) विज्जए (४।२१७)

अइ प्राचीन अति का ही रूपान्तर है । करोति >करति>करइ । करए का = आए इसी अइ का विकास है । ध्वनि सम्बन्धी विवेचन में इसका विस्तृत परिचय दिया गया है । [देखिए §६]

इसी अइ के उद्वृत्त स्वरों से ऐ का संयुक्त स्वर बनता है । कीर्तिलता में अन्य ऐ वाले रूप भी उपलब्ध होते हैं ।

पाणै (२/१६१ = भणइ) राखै (३।१६१ = राखइ) लगावै (२।१६० = लगावइ) लागै (३।१४४ = लागइ)

—अ कारान्त क्रिया रूपों के विषय में चटर्जी ने उक्ति व्यक्ति प्रकरण में विस्तार से विचार किया है । (उक्ति व्यक्ति §३६) चटर्जी ने इसका विकास अति > अइ > अए > अ के रूप में माना है । इस तरह के रूप तुलसी, जायसी आदि में भी पाये जाते हैं । इनके मूल में कृदन्तज रूपों का कहाँ तक योग है, यह भी विचारणीय प्रश्न है ।

सोइ प्रगटत जिमि मोल रतन ते (तुलसी)

कह रावण सुनु सुमुखि सयानी (तुलसी)

ऊपर के रूपों में प्रगटत स्पष्टतः कृदन्त रूप है कह को कहत से विकसित माना जा सकता है । ये रूप कभी कभी भूतकाल में भी प्रयोग में आते हैं । वेद पढ़ तिन्नि (कीर्ति० १।४६) = तीनों वेद पढा ।

मधुर वचन सीता जब बोला (तुलसी) = सीता बोली

रहा न जोबन आव बुढ़ापा (जायसी) = यौवन नहीं रहा, बुढ़ापा आया।

ये पद, बोल, आव आदि रूप भूतकाल के हैं। ऐसी अवस्था में इन्हें पढ़इ बोलइ, आवइ आदि से विकसित मानने में कठिनाई उपस्थित होती है। उक्ति व्यक्ति, प्राकृत पैंलगम्, चर्यागीत, कीर्तिलता जायसी और तुलसी की रचनाओं में इस प्रकार के रूपों का बाहुल्य देखकर यह अनुमान करना तो सहज है कि यह उस जमाने के प्रचलित प्रयोग हैं।

§६३—कीर्तिलता में वर्तमान काल के अन्य पुरुष में 'थि' विभक्ति का प्रयोग मिलता है। यह 'थि' विभक्ति मैथिली की अपनी विशेषता मानी जाती है। 'थि' विभक्ति का प्रयोग कीर्तिलता में कुल १३ बार मिलता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

१. **अणवरत हाथि मयमत्त जाथि** (४।१६)
२. **सबे किछु किनइते पावथि** (२।११४)
३. **धाए पइसथि परयुत्थे** (४।१६७)
४. **जोअन बीस दिनद्धे धावथि** (४।७८)
५. **बगल क रोटी दिवस गमावथि** (४।७९)

थि का प्रयोग इन उदाहरणों से स्पष्ट है। केवल अन्य पुरुष के बहुबचन में पाया जाता है। थि विभक्ति की उत्पत्ति विचारणीय है। डा० चटर्जी इसकी उत्पत्ति संस्कृत के वर्तमान काल के अन्य पुरुष बहुबचन की विभक्ति 'न्ति' से मानते हैं। उनका कहना है कि 'न्ति' विभक्ति का अवशेष त् है जो 'हि' निश्चयार्थ अव्यय से संयुक्त होकर 'थि' का रूप ग्रहण करता है।

१. बहुबचन अन्य पुरुष के लिए कीर्तिलता में संस्कृत के प्रभाव से 'न्ति' विभक्ति का भी प्रयोग हुआ है।

१. **तोलन्ति हेरा लसूला पेयाजू** (२।१६५)
२. **वसाहन्ति षीसा पहज्जल्ल मोजा** (२।६१)
३. **पक्खालेन्ति पाआ** (४।११६)

२. अन्य पुरुष एक बचन में कहीं कहीं 'ति' भी मिलती है अथ भृ गी पुनः पृच्छति (२।१)

३. नत्थि (३।११०) < नास्ति का परवर्ती रूपान्तर है।

वहुबचन में—'हिं' विभक्ति का भी अन्य पुरुष में प्रयोग होता है।

आनहिं (२।३०) आवहिं (२।२१६) हेरहिं (२।८८) । इनमें -हिं विभक्ति का सम्बन्ध प्राचीन 'अन्ति' से माना जाता है ।

§६४—भूतकाल

अपभ्रंश काल तक आते आते भूतकाल के क्रिया रूपों में आश्चर्य जनक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं । संस्कृत के लुट्, लङ्, और लिट् ये तीनों लकार पाली काल में नहीं दिखाई पड़ते । पाली में केवल लुट् का प्रयोग दिखाई पड़ता है । प्राकृतों में इस काल में लकारों का लोप हो गया और क्त प्रत्यय के कृदन्तों का प्रयोग होने लगा । क्त प्रत्ययान्त कृदन्तों का प्रयोग संस्कृत में केवल कर्म वाच्य में ही होता था यह नियम अपभ्रंश काल में बहुत ढीला पड़ गया । पूर्वी प्रदेशों में 'ल' प्रत्यय वाले रूपों का प्रचार बढ़ा ।

इन रूपों की विशेषता यह है कि ये भूतकृदन्तज विशेषणों के रूप में प्रयुक्त होते हैं और इसमें क्रिया में कर्ता के अनुसार लिंग वचन का आरोप होता है ।

१—विद्यापति की कीर्तिलता में भूतकाल के कृदन्त रूपों की अधिकता है कृदन्त प्रायः दो रूप में दिखाई पड़ते हैं । 'इअ' और 'इज' दोनों रूपो के प्रयोग मिलते हैं । 'इज' रूप प्रायः शौरसेनी अपभ्रंश या पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाओं में ही मिलता है । इसका प्रयोग पूर्वी अपभ्रंश या अवहट्ट में बहुत विरल मिलते हैं ।

धनि पेक्खिअ सानन्द (२।१२४) **रअणि विरमिअ** (३।४)

एम कोप्पिय, सुनिय सुरतान (३।२४) **तवहु न चुक्किय** (३।११८)

इस प्रकार के 'इअ' वाले रूप ही मिलते हैं । मेरे देखने में कोई इज वाला रूप नहीं आया । दो स्थल पर दिखाई भी पड़ते हैं, वे कर्मणि प्रयोग हैं ।

जेहि न पाउं उमग दिज्जिय (१।५३)

अत्थिजन विमन न किज्जिय (१।५२)

इज वाले रूपों का पश्चिमी अपभ्रंश में बहुत प्रयोग हुआ है ।

२—कीर्तिलता में भूतकाल के इन रूपों में कुछ में अनुस्वार युक्त 'उ' लगाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है ।

पुरुष हुअउं बलिराय (१।३८) **खत्तिय खय करिअउं** (१।४१)

किमि उपअउं बैरिपण (२।२) **किमि उद्धरिउं तेन** (२।२)

कुछ रूपों में उ तो लगता है, परन्तु वह अनुनासिक नहीं होता । ये

रूप स्वार्थक 'अ' : कः प्रत्यय के रूप हैं। हेमचन्द्र के दोहों में भी चलियउ, कियउ, देक्खिउ रूप मिलते हैं। जोइन्दु के जगु जाणियउ<ज्ञातः तथा स्वयंभू के 'थिरभावाउल रस पूरियउ' में पूरियउ<पूरतः तथा हरिस विसाउ पवराणउ< प्रपन्न : आदि रूपों में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।
कुछ रूपों में अउ के स्थान पर अओ रूप हो जाता है। करेओ (२।१०३) पधारेओ (१।८४) सारेओ (१।८७) विथ्थरेओ (१।८८)

३—कीर्तिलता में भूतकाल में कुछ उकारान्त रूप मिलते हैं जो 'क्त' कृदन्त के रूपों से विकसित मालूम होते हैं।

गतः7 गतो7 गदो 7 गओ 7 गउ कीर्तिलता से निम्न उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं :

पाएँ चलु दुअओ कुमर (२।५१)
काहु संवक लागु पैठि (२।६१)
कतेहु दिने वाट संचरु (२।७४)
उपजु डर (३।७६)

इस तरह के करु, परु, लरु, जागु, पलु, मउं, भउं आदि बहुत से रूप मिल जायेंगे। यह अवहट्ट काल की रचनाओं में प्रायः साधारण प्रवृत्ति हो गई थी।

४. भूतकाल के कृदन्त रूपों में 'इ अ' को इ आ कर देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश काल में भी मिलती है।

१. अम्बर मंडल पूरीआ (२।११६)
२. पअ भरे पाथर चूरीआ (२।११७)
३. सेना संचरिआ (४।२)
४. अप्पे करे थप्पिआ (३।८२)
५. धूल भरे झंपिआ (३।७०)

ऐसा भी हो सकता है कि नाद पूर्ति के लिए ही अन्तिम स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। यों कीर्तिलता में ही नहीं, चर्यागीतों, प्राकृत पैंगलम् तथा पश्चिमी अवहट्ट की अन्य रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। खड़ी बोली के आकारान्त क्रिया पदों का मूल भी इसी प्रवृत्ति में ढूँढा जा सकता है।

भल्ला हुआ जो मारिआ बहिणि म्हारो कंतु।

इस क्रिया मारिआ का नाम खड़ी बोली की क्रियाओं के विकास के सिलसिले में लिया जाता है किन्तु अवहट्ट युग में तो यह एक साधारण प्रयोग-सा हो गया था।

कीर्तिलता में एक बिल्कुल खड़ी बोली जैसा क्रिया पद भी मिलता है।

चान्दन क मूल्य इन्धन विका (२।११०)

वस्तुतः यह विक्किश्रा का ही सरलीकृत रूप है। इसी प्रकार अवहट्ट की इन क्रियाओं में खड़ी बोली के अन्य क्रियाओं का मूल ढूँढ़ा जा सकता है।

§६५ ल प्रत्यय : कीर्तिलता में भूतकाल में 'ल' का प्रयोग हुआ है। गेल, भेल, कहल आदि इसके उदाहरण हैं। ये रूप थोड़ी भिन्नता से दो तरह के हैं। एक जिनकी धातुओं में परिवर्तन नहीं हुआ है उनमें सीधे 'ल' जोड़ दिया गया है। दूसरों में थोड़ा परिवर्तन के बाद 'ल' जुड़ता है। इस तरह 'कहल, मारल, चलल, मिलल पहली तरह के रूप हैं गेल, भेल, देल आदि दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं। कीर्तिलता में ये दोनों प्रकार मिलते हैं।

१. काहु वाट कहल सोझ (२।७२)
२. गएनेसर मारल (२।७)
३. तुरुक तोषारहिं चलल (२।१७६)
४. भेल वड प्रयास (२।१२८)
५. ठाकुर ठक भए गेल (२।१०)
६. काहु देल ऋण उधार (२।६६)

इन कृदन्तों में कर्ता के अनुसार लिंग भेद भी होता है।

ल का प्रयोग पूर्वी भाषाओं में तो होता ही है अवहट्ट की पश्चिमी रचनाओं में भी कृदन्तज विशेषण के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। डा० तेसीतरी ने प्राचीन राजस्थानी के प्रसंग में सुनिल और 'धुनिल' में दो उदाहरण बताए। इस 'ल' या 'इ' अथवा 'अल' की व्युत्पति के विषय में बहुत विवाद है। विद्वानों की राय है कि 'इत' प्राकृत में 'इड' 'इड' फिर 'इर' और 'इल' हो गया। परन्तु प्राकृत में त का ड़ होना असंभव है। डा० हार्नली ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए इत से इल ही माना। उनके बीच के इड या इड़ रूपों को हटा दिया। पिशेल और जूल ब्लाक ने इसकी उत्पत्ति संस्कृत के ल प्रत्यय से स्वीकार किया। कैलाग और वीम्स और आगे बढ़े और इन लोगों ने इसका सम्बन्ध रूसी 'ल' प्रत्यय से जोड़ने की चेष्टा की। वस्तुत: इसकी उत्पत्ति इत और ल के संयोग से हुई है यह इल्ल रूप पुराना है। सर चार्ल्स लायल ने सर्व प्रथम इस ल या इल का सम्बन्ध प्राकृत 'इल्ल' से जोड़ा। स्केच आव् दि

हिन्दुस्तानी लैंग्वेंज नामक निबन्ध में उन्होंने इस विषय पर विचार किया। इसी व्युत्पति को आज कल ठीक माना जाता है।[१]

§६६ भविष्यत् काल : भविष्य निश्चयार्थ :

अपभ्रंश में भविष्यत् काल के प्रायः दो प्रकार के रूप मिलते हैं। कुछ रूपों में विभक्ति के रूप में स या उसके परिवर्तित रूप मिलते हैं कुछ में ह या उसके विकृत रूप प्राप्त होते हैं।

उदाहरण के लिए कृ धातु के दो तरह के रूप बन सकते हैं। एक ओर जहाँ करिसुं करसेहुं, करसहि करीस, करसेइ और करिसई रूप मिलेंगे वहीं दूसरी ओर करीहिं, करहुं, करिहि, करिहिहि, करिहि आदि दूसरे प्रकार के रूप भी मिलेंगे।

कीर्तिलता में कुछ और भी अधिक परिवर्तित होकर दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। स विभक्ति या उसके परिवर्तित रूपों के उदाहरण नीचे हैं।

१. होणा होसइ एक्क पइ वीर पुरिष उच्छाह (२।४६)
२. तुम्हें न होसउं असहना (३।३२)
३. जइ सुरसा होसइ मझु भासा (१।१४)

इस स विभक्ति वाले रूपों की सख्या बहुत थोड़ी है। किन्तु ह विभक्ति के रूप बहुलता से पाए जाते हैं। वस्तुतः स वाले रूप पश्चिमी अपभ्रंश में ही अधिक पाए जाते हैं। नीचे ह विभक्ति वाले रूपों के उदाहरण दिए जाते हैं।

१. जो बुज्झिह (१।१६)
२. सो करिह (१।१६)
३. ध्रुव न धरिज्जिह सोग (३।१४७)
४. कालहि चुक्कह कज्ज (३।५१)
५. पुनुवि परिश्रम सीझिहइ (३।५१)
६. किमि जिविहि मझु माञे (३।२७)

इन 'इह' और 'इस' दोनों प्रकार के रूपों की व्युत्पत्ति सस्कृत के इष्य रूप से ही हुई है।

इह और इस<प्राकृत इस्स<संस्कृत इष्य

चर्यागीत, दोहाकोष और अन्य रचनाओं में इस प्रवृत्ति के आभास होते हैं। भोजपुरिया, मैथिली, और बँगला आदि में आज भी ह या उसके विकृत रूपों का प्रयोग होता है। ब विभक्ति जो पदावली तथा अन्य पूर्वी भाषाओं

---

१. इंडियन ऐंटिक्वेरी पुरानी राजस्थानी § १२६।५

में मिलती है। कीर्तिलता में नहीं मिलती। केवल एक स्थान पर 'व्वउँ' के साथ 'करना' क्रिया का प्रयोग हुआ है।

झंख करिव्वउँ काह (३।८१)

यह 'तव्यत्' से विकसित हुआ है।

§६७—**भविष्य संभावना के भी कुछ प्रयोग मिलते है।**

ते रहउ कि जाउ कि रज्ज मम् (२।४८)

ऐसे प्रयोग अवधी में भी मिलते हैं।

जोवन जाउ जाउ सो भँवरा (जायसी)

अजस होउ जग सुजस नसाइ (तुलसी)

§६८—**कृदन्त का वर्तमान में प्रयोग :**

वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों का वर्तमान काल में क्रिया की तरह प्रयोग होता है।

कढ़न्ता (२।१७२ = काढ़ते हैं); करन्ता (२।२२७ = करते हैं) चाहन्ते (२।२१६ = चाहते हैं) चापन्ते (२।१७ = चापते हैं) टूटन्ता (४।१७६ = टूटते हैं) देषन्ते (२।२४० = देखते हैं) निन्दन्ते (२।१४५ = निन्दा करते हैं) पिअन्ता (२।१७० = पीते हैं) पावन्ता (२।२२१ = पाते हैं) सोहन्ता (२।२३० = शोभित होते हैं) ये रूप धातु में अंत (शतृ प्रत्ययान्त) लगने से बनते हैं यही रूप बाद में 'ता' रूपों में दिखाई पड़ते हैं जिसके साथ सहायक क्रिया का प्रयोग करके हिन्दी के वर्तमान जाता है, पढ़ता है आदि रूपों का निर्माण होता है। इन कृदन्तज रूपों की यह पहली स्थिति है जिससे विकसित होकर वे हिन्दी के वर्तमान रूपों में आए।

§६९—अपूर्ण कृदन्त—

कीर्तिलता में प्रायः संयुक्त क्रियाओं में अपूर्ण कृदन्तों का प्रयोग हुआ है। इनके उदाहरण नीचे उपस्थित किए जाते हैं।

किनइते पावथि (२।११४ = खरीद पाते हैं) जाइते धर (२।२०१ = जाते हुए पकड़ लेते हैं) आन करइते आन भउ (३।४६ = दूसरा करते दूसरा हुआ)।

चटर्जी इन्हें (Present Progressive) का उदाहरण मानते हैं होइते अछ, (वर्ण १३ क) करइते आह। (३७ ख) चरइतें अछ (वर्ण) रूपों का उदाहरण देते हुए चटर्जी ने कहा कि वर्तमान मैथिली में 'करइते अछ' और 'करइछ' दोनों रूप मिलते हैं (वर्ण० र० § ५०) डॉ० बाबू राम सक्सेना

इन रूपों को क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप बताते हैं [कीर्तिलता, न० सं० पृ० ५४] हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। उसे काम करते देर हो गई, में 'करते' अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त है जो वर्तमान कालिक कृदन्त का विकृत रूप मात्र है।[1]

§७० प्रेरणार्थक क्रिया—

कीर्तिलता के निम्नलिखित उदाहरणों में प्रेरणार्थक रूप उपलब्ध होते हैं।

करावए (३।२८ = कराता है) वैठाव (२।१८४ = बिठलाता है), लवावै (२।१६० = लिवा आता है) पलटाए (१।८६ = पलटा कर) इन क्रिया रूपों में 'आव' लगा हुआ है। संस्कृत में प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप धातु में—अय लगा कर बनते थे। स्वरान्त धातुओं में—अय के बीच में—प भी लगता था। इसी आप (दापयति) का विकसित रूप आव है।

§७१ आज्ञार्थक—

हेमचन्द्र ने आज्ञार्थक क्रिया के लिए 'हिस्वयोरिदुदेत्' (८।४।३८७) सूत्र के उदाहरण में जो तीन रूप बताए हैं सुमरि, विलम्बु, और करे उनमें-इ,-उ,-ए ये तीन प्रकार दिखाई पड़ते हैं। कीर्तिलता के आज्ञार्थक रूपों में कई नए प्रकार भी दिखाई पड़ते हैं।

मूल धातु रूप ही आज्ञार्थक का वोध कराते हैं ये प्रायः अ स्वरान्त होते हैं।

१—अ—

अनुसर (४।२५) कह कह कन्ता (४।२) भण (२।४८) सुन (१।२३)

२—उ—

जियउ (१।७७) जीअउ (२।२१३) साहउ (१।७७)

३—ओ—

सुनओ (२।१५६) करो (२।११०)

४—हु—

कहहु (३।३) करहु (२।३२) भुंजहु (२।२७) राखेहु (१।४४) सगपलहु (२।३८)

५—सि—

1. हि० भा० इति० § ३१४

कहसि (१।२६)

६—हि—

जाहि (४।२५२) अप्पहि (४।४)

७—आदरार्थ आज्ञा—इअ—

करिअइ (२।२४=कीजिए) किजिअ (४।२५६) छानिअ (३।६८) छपाइअ (३।१०४) धरिअ (२।१८१)

८—करिषु (३।५६) हरिजिषु (३।५६–पाठभेद)

उ और ओ–रूप प्राचीन तु (करोतु) पर आधारित हैं। हु की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। चटर्जी ने 'हु' के लिए :

कुरुष्व>करस्स>करहु>का क्रम बताया है।—सि पर वर्तमान मध्य-पुरुष की विभक्ति-सि का प्रभाव है।

मुंज म करसि विसाउ (मुंजराज प्रबन्ध दो० सं० ३४) में करसि ऐसा ही रूप है। छानिअ, छपाइअ आदि इअ रूप भूतकालिक कृदन्त के इ त वाले रूपों से विकास ही हैं। करिसु का सु∠ष्व से विकसित है।

§ ७२—पूर्वकालिक क्रिया—अपभ्रंश में पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिए कई प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग होता था।

हेमचन्द्र के अनुसार ये इस प्रकार है।

—इ —इउ — इवि — अवि

—एप्पि —एप्पिणु— एवि — एविणु

इन प्रत्ययों में कीर्तिलतायें 'इ' प्रत्यय ही सर्वाधिक रूप से उपलब्ध है।

इ—उट्ठि (३।६) उभारि (२।१३७ उभार कर); कट्टि (३।७८=काटकर); खुखुन्दि (४।१३५=खोदकर) गोइ (१।४४=छिपाकर) चापि (३।१४६=चाँप कर) छाँडि (२।१०५=छोड़कर) जित्ति (४।२५४=जीत कर) टोप्परि (४।२३२ रुक कर ?) दमसि (४।१२८=मर्दित करके) दौरि (२।१८१=दौड़ कर) धरि २।२२२=पकड़ कर) धाइ (२।४१=दौड़ कर) नामि (३।२२=नवा कर) पकलि (४।१४८२)। इ का कुछ रूपों में ए हो जाता है। नीचे—ए वाले रूपों के उदाहरण दिये जाते हैं।

ए—गए (१।३=जाकर) पइट्ठे (२।३६ पैठकर) पलटाए (१।८६= पलटा कर) भेले (३।६०=होकर) लै (२।१८४=लेकर) (धै २।१८४=पकड़कर)

कुछ रूपों में पूर्वकालिक क्रिया का एक साथ दो बार प्रयोग होता है। वर्तमान हिन्दी में पहन कर या पहने हुये इसी तरह के रूप कहे जा सकते हैं।

वल कर (२।०० = वल करके) भेले (३।६० = होकर) रहि रहि (२।२२३ = रह रह कर) ले ले (२।१७६ = ले कर)

कुछ ऐसे भी रूप हैं जिनमें अ प्रत्यय लगा है।

मारिअ (४।४७) सुनिअ (३।३४ = सुनकर) सम्मद्द (२।१०६ = समर्दित करके)

§ ७३—क्रियार्थक संज्ञा

१—अण < प्रा० अन के रूप जो 'ना' के रूप में दिखाई पड़ता है।

जीअना (२।३६ = जीना) देना (२।२०७) भोअना (२।३५)

वजन (४।२५५) वटुराना (२।२२५) वसन (२।६२), होणा २।५६

२—ब या बा—

कहवा (१।५४) विकाइवा (२।१०७) हेरव (४।१२६) पेल्लव (४।१२७)

३—ए—

गणाए (४।१०७ = गणना) चलए (२।२३० = चलना) पीवए (३।६८ = पीना) हिण्डए (२।११३ = हीड़ना, घूमना)

४—निहार—

बुज्झनिहार (२।१४)

§ ७४—सहायक क्रिया

कीर्तिलता में चार सहायक क्रियाओं का प्रयोग हुआ है।

१—अच्छ—१—**मेरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ** (२।४२)

२—**तहाँ अछए मन्ति** (३।१३१)

३—**अछै मन्ति विअक्खण।** (३।१२१)

अछइ या अछए का विकास अपभ्रंश अच्छइ < अच्छति < अत्ति से संभव है।

२—अह—

खिसियाय खाण है (२।१८०)

संस्कृत अस् > अह की व्युत्पत्ति हुई है।

३—हो < भू

हुअउँ (३।४) हुअ (२।२) हो (२।१७२) भउँ (३।४६)

४—रह

रैयत भले जीव रह (३।६०)

ताकी रहै तसु तीर लै (२।१८४)

§ ७५—संयुक्त क्रिया—

१—चाह (आरम्भ सूचक)

भागए चाह (२।१४७ = भागना चाहती है)

चढ़ावए चाह घोर (२।२०५ = चढ़ाना चाहता है)

२—पार (सामर्थ्य सूचक)

सहहि न पारइ (३।२८)

गणए न पारीआ (२।११६)

३—पाव (प्राप्ति सूचक या सामर्थ्य सूचक)

किनइते पावथि (२।११४)

वसन पाओल (२।६२)

४—जा, ले, दे, खा, आदि के साथ भी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं जो सभी कार्य की पूर्णता द्योतित करते हैं।

जा (२।१३०) जाइ (२।१८२) जाइअ (२।६३)

खाए ले भांग क गुण्डा (२।१७४)

मंचो बंधि न देइ (१।२)

सैच्चान खेदि खा (४।१३३)

५—लागु भी आरम्भ सूचक सहायक क्रिया की तरह प्रयुक्त होता है।

भैटि लागु (२।६८)

§ ७६—सयुक्त काल—

अवत्त हुअ (४।१०६)

खिखियाय खाण है (२।१८०)

देखि न हो भान (२।२१२)

बाकी उदाहरण सहायक क्रियाओं के प्रसंग में दिये गए हैं [§ ७४]

क्रिया-विशेषण अव्यय

§ ७७—कीर्तिलता में निम्नलिखित क्रिया विशेषण अव्यय मिलते हैं।

१—काल वाचक

अज (३।१४ ∠ अद्य) इथ्थेन्तर (३।६५) एथ्थन्तर (३।४७) जबे (२।४)जबहीं (२।१८२) ततो (२।१५८) तबे (२।१४०) तबहीं (२।१८३) अवहिं (३।४४)

२—स्थान वाचक

इअ (२।२२६ = इतः) इथ्थिथ (४।१२) उत्थि (२।२३४) उपर

(२।२०५) ओर (२।५२) कहीं (२।१६०) जहाँ (३।६३) तहाँ (३।१३१) निअर (४।२२३) पटरे (२।२३०) पाछा (२।१७६ < पश्च) वगल (४।७६) वाजू (२।१६४) भीतर (२।८०) रहसें (१।३०)

३—रीति वाचक—

एम (४।२५३) एव (३।१०५), काञि (१।१) किमि (२।२) जञो (२।४७=ज्यों) झाटे (३।१४६ < झटिति) न (२।१६) नहिं (२।४५) नहु (१।२८) णिच्चइ (१।१२) पइ (२।३४) फुर (३।१६२ < स्फुट) विनु (३।१५०)

४—सदृश सूचक—

जनि (जनि (२।१०४), जनु (२।१४१) सञो (२।४७) समाण (३।१४६)

५—विविध—

अरु (३।१८) अवरु (२।५८) एवञ्च (४।१३६) तोवि (४।१६७ < तोऽपि)

अवस (३।२८=अवश्य), कलु (३।११४<खलु), तौ (३।२३) अवि अवि च (२।११०)

६—विस्मय सूचक

अहो (२।३३८) अहह (३।११४)

§७८—रचनात्मक प्रत्यय

कीर्तिलता के रचनात्मक प्रत्ययों में अधिकांश अपना विकास प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्य भाषा के प्रत्ययों से द्योतित करते हैं। नीचे इन प्रत्ययों के उदाहरण और इनके विकास का क्रम उपस्थित किया जाता है।

१—अ<स्वार्थे क (संस्कृत)

गरुअ (३।१३७<गुरुक)

२—अण<म० अण <प्रा० अन।

जोअना (२।३६) होणा (२।५६) देना (२।२०६) भोअना (२।३५)

३—अनिहार <म० अणिअ <सं० अनिका+हार <धार

बुझनिहार (२।१४) भंजनिहार (४।१५८)

४—अव <म० इ अव्व <प्रा० इतव्य—भविष्यत् क्रियार्थक संज्ञा

कहवा (१।५४) विकाइ बा (२।१०७) हेरब (४।१२६) पेल्लव (४।१२७)

५—आर<कार:
वणिजार (२।११३<वाणिज्यकार) गमार (२।१५१ <ग्रामकार)
६—आरि<कारिक
भिक्खारि (२।१४<भिक्षाकारिक) पियारिओ (२।१२०<प्रियकारिका)
७—आण—करने वाला,
कोहाण (४।२२२) खोहण (४।२२<क्षोभ+आण) सरोसान (४।२०५ =स+रोष+आण) निद्राण (२।२६)
८—ई<इका
कहाणी (१।३६ <कथानिका) अटारी २।६७<अट्टालिका)
९—ड़<स्वार्थे ट (क)
थोल ∠थोड़ा (२।८७<स्तोक+ड़)
१०—मन्त<वन्त
गुणमन्ता (२।१३०<गुणवन्त)
११—पण भाववाचक
वड्डिपन (१।५४) कैरिपण (२।२)
१२—ई भाववाचक
बड़ाई (३।१३८) दोहाए (३।३६ =दोहाई)
१३—दार (फारसी)
दोक्काणदारा (३।१६३)
१४—तण (अपभ्रंश, भाववाचक)
वीरत्तण (३।३३) जम्मत्तणेन १।३२ =जन्मत्वेण)
१५—वा <स्वार्थे क–मैथिली का अपना प्रत्यय है।
पउवा (३।१६१<प्रभुवा) प्रिउवा (४।१०३<प्रिय वा)

§ ७६ समास—

कीर्तिलता के गद्य में पाये जाने वाले प्रायः अधिकांश समसों का रूप संस्कृत जैसा ही हैं। गद्य में लेखक ने संस्कृत गद्य का पूर्ण रूप से अनुसरण करना चाहा है। ऐसे स्थलों पर तीन तीन पंक्तियों तक के समास मिलते हैं। **प्रबलशत्रु वलसंघट्टसंम्मिलन सम्मर्दसंजातपदाघाततरलतरतुरंगरवुरखुन्न वसुन्धराधूलि सभारघनान्धकार श्यामसमरनिशाभिसारिका प्राय जयलक्ष्मी करग्रहण करेओ।** (१।८०)

गद्यो के अलावा, पद्यों में भी समस्तपद मिलते हैं। इनमें कुछ तो

तत्सम प्रभावित हैं कुछ मध्यकालीन समासो की तरह प्राचीन नियमों में से थोड़े स्वतंत्र दिखाई पड़ते हैं। नीचे थोड़े से उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं। अतिथिजन (१।५२) अतुलतर विक्रम (१।१८) अष्टधातु (२।१००) उप्पन्नमति (१।५५) उरिधान (२।२०६) कुसुमाउँह (१।५७ <कुसुमायुध) केदारदान (१।५८) कौसीस (२।६८ कोटशीर्ष ?) चारुकला (४।२३०) जलंजलि (३।२६) ढलवाइक (४।७१) तम्वारू (२।१६८) तक्ककक्कस (१।४६ <तर्क कर्कश) महु-मास (२।५) निमाजगह (२।२३६) पक्वानहटा (२।१३०) पञ्चशर (२।१४५) पनहटा (२।१०३) परउँअआरे २।३६) परयुत्थे (४।१६७) पाणिग्गह (३।१२५) पुच्छ विहूना (१।३५) विवट्टवट्ट (२।८४) विसहर (१।६) वैरुद्धार (२।२१) रज्ज-लुद्ध (२।६) शाखानगर (२।६६) सोनहटा (२।१०२) हुआसन (१।५७)

§ ८०—वाक्य विन्यास (Syntax)

कीर्तिलता में हमने अब तक पदों के विवेचन के सिलसिले में महत्त्वपूर्ण प्रयोगों पर विचार किया। पूरे वाक्य की गठन की दृष्टि से, पदों के पारस्परिक प्रयोग और सम्बन्ध तथा क्रम की दृष्टि से भी इसकी भाषा विशेष विचार ही वस्तु है।

वाक्यों की गठन (गद्य में) प्रायः वैसी ही है जैसी वर्तमान हिन्दी की होती हैं। यानी कारक (संज्ञा, सर्वनाम) फिर कर्म और अन्त में क्रिया।

दोसरी अमरावती क अवतार भा (२।६१)
मानो दूसरी अमरावती का अवतार हुआ
आनक तिलक आनकाँ लाग (२।१०८)
दूसरे का तिलक दूसरे को लग जाता
मर्यादा छाँडि महार्णव ऊठ (२।१०९)
मर्यादा छोड़ कर महार्णव उठ पड़ा।
ठाकुर ठक भए गेल (२।१०)
ठाकुर ठग हो गए

राजपथ के सन्निधान सँचरन्ते अनेक देषिअ वेश्यन्हि करो निवास जन्हि के निर्माणे विश्वकर्महु भेल बड़ प्रयास

जहाँ इस तरह के लम्बे वाक्य है वहाँ अवश्य ही अन्तर्तुकान्त देने की प्रवृत्ति के कारण इस क्रम में थोड़ा अन्तर आ जाता है।

२—वाक्य गठन की दूसरी विशेषता है संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग।

क्रियाओं वाले भाग में उस पर विचार किया गया है और उदाहरण भी दिए गये हैं। इनमें कहीं कहीं प्रयोग बिल्कुल वर्तमान भाषा के ढंग के होते हैं। [देखिए § ७५-७६]

३—कीर्तिलता में कुछ प्रयोग ऐसे हैं जो ठेठ जन-प्रयोग है, ऐसे स्थलों पर भाषा बड़ी ही पैनी और वाक्य छोटे छोटे तथा अर्थपूर्ण होते हैं।

१—**भाहु भैसुर क सोझ जाहि** ४।२४७—बहू (अनुजवधू) भसुर के सोझ जाती है। 'सोझ (सामने) का प्रयोग खड़ी बोली में नहीं होता किन्तु पूर्वी भाषाओं में यह अब भी चलता है।

२—**काहु होत अइसनो आस, कइसे लागत आँचर बतास** (२।१४६)

३ **रैयत मेले जीव रह**—प्रजा होने पर ही जीव रहता है। रहता है प्रयोग खड़ी बोली में (बचना) अर्थ में बहुत प्रचलित नहीं है।

४—**गाँठि परि अउँ** ३।३५ = गाँठ पड़ गई।

वाक्यों को तोड़ तोड़ कर कहने का सुन्दर ढंग है।

५—**गिरि टरइ, महि पडइ, नाग मन कंपिआ** (२।६१)

६—**चन्दन क मूल्य इन्धन विका** (३।१००)

§८१ शब्दकोष

रासो को छोड़कर इस काल की किसी अन्य पुस्तक में शायद ही कीर्तिलता से ज्यादा बहुरंगी शब्द दिखाई पड़ें। कीर्तिलता में सब चार प्रकार के शब्द मिलते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के कारण तत्कालीन साहित्य में तत्सम का प्रचार होने लगा, कीर्तिलता के लेखक तो स्वयं भी संस्कृत भाषा के अच्छे पंडित और कवि थे अतः यहाँ तत्सम शब्दों का प्रवेश अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है। दूसरे प्रकार के शब्द तद्भव हैं जो इतने विकसित रूप में दिखाई पड़ते हैं कि उनका विकास-क्रम निश्चित कर सकना कठिन होता है।

ओका २।१२६<अपरक। जूठ २।१५८ < उच्छिष्ट, सोअर ४।४५ < सहोदर, कौडि ३।१०१<कपर्दिका। कौसीस २।१६०<कोट्टशीर्ष।

तद्भव शब्दों के विकास का यह रूप लेखक द्वारा जीवंत भाषा के ग्रहण की प्रवृत्ति का द्योतक है। आगे शब्द सूची में इस प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति दे दी गई है। कुछ शब्दों का प्रयोग तो अब प्रचलित भी नहीं रहा। थप्प थप्प

थनवार ४।२८<स्थानपालः। कीर्तिलता के इस शब्द का प्रायः गलत अर्थ लगाया जाता था। इसका अर्थ टाप की आवाज नहीं साईस है।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण में तथा वर्णरत्नाकर में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। घोड थणवाला न्हात तुतेड (उक्ति ३८।२२) घोटकं स्थानपालः स्नातुमुत्तेडयति। थलवारन्हि घोल उपनीत करुअह (रर्णतत्नाकर ४५ क)

तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जो विदेशी कहे जा सकते हैं। ऐसे शब्दों को कीर्तिलता में प्रायः तोड़ मोड़ कर रखा गया है। और उन्हें सहसा पहचान लेना कठिन है। शब्द सूची में ये शब्द दिए हुए हैं। यहाँ इनमें से कुछ खास दिए जाते हैं।

कुरुवक ३।४३<कोरबेग़ मुसलमानी सेना में अस्त्र शस्त्र का अधिकारी (आइने-अकबरी पृष्ठ सं॰ ७ का पाँचवा नोट, सम्पादक, रामलाल पाण्डेय) देखने में यह शब्द बिल्कुल भारतीय बन गया है, इसी से अर्थकारों ने तरह तरह के अटकल लगाए हैं इस तरह के और भी शब्द हैं जो इतने भ्रष्ट हो गए हैं कि उनका अर्थ नहीं लग पाता।

देमान अवदगल गद्दवर कुरुवक वइसल अदप कइ। इसमें दीवान और कोरबेग़ तो मिले; पर अवदगल और गद्दवर का कोई अर्थ नहीं निकलता। मुसलमानी सेना में सज़ा देने वाले अधिकारी को अदल कहते थे (मीर-अदल) आइने अकबरी। संभवतः अवदगल वही हो।

तकतान तख्त का ही रूप है या और कुछ इसमें सन्देह है। उसी प्रकार पइजल (फैज़ार) वलह (वली, फ़कीर) तवेल्ला (अस्तबल) तश्थ (तश्तरी) षोजा (खवाजा) सइल्लार (सालार) आदि शब्द मिलते हैं। इस प्रकार के अरबी फारसी शब्दों की संख्या एक सौ के आसपास है।

चौथे प्रकार के शब्द देशी हैं। इन शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ आज भी मिल जाता है।

अँटले ४।४६ = बाँधकर, गुण्डा २।१७४ = गोली, चाँगरे ४।४५ = चांग, जरहरि ४।२१२ = नाव की झिरहिरी, धाँगड़ ४।८६ = जंगली, धाड़े ४।८८ = धावा, हेडा २।१७६ = गोस्त, हचड़ ३।४२ = कीचड़, कोलाहल

क्रिया रूपों में भी देशी धातुओं का प्रयोग मिलता है।

द्वितीय खण्ड

विद्यापति विरचित

कीर्त्तिलता

मूलशोधित पाठ, विद्यापति का समय, साहित्यिक मूल्याङ्कन,
हिन्दीभाषान्तर, वृहद् शब्दसूची के साथ

कीर्तिलता का मूल-पाठ और प्रस्तुत संस्करण की विशेषताएँ

भाषा और साहित्य, दोनों ही के अध्ययन की दृष्टि से कीर्तिलता का महत्त्व निर्विवाद है; किन्तु अभाग्यवश इस प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना का कोई प्रामाणिक संस्करण दिखाई नहीं पड़ता। कीर्तिलता का पहला संस्करण वंगीय सन् १३३१ (ईस्वी १९२४) में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादकत्व में हृषीकेश सीरीज़ के अन्तर्गत कलकत्ता ओरियण्टल प्रेस से प्रकाशित हुआ। ईस्वीसन् १९२२ में शास्त्री जी नेपाल गए और वहाँ से वे कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये। उक्त प्रति के विषय में शास्त्री जी ने लिखा है कि उसे जय जगज्ज्योतिर्मल्लदेव महाराजाधिराज की आज्ञा से दैवज्ञनारायण सिंह ने नेपाल में बसे हुए किसी मैथिल पंडित की प्रति से नकल किया था। नेपाल दर्बार की प्रति नेवारी लिपि में है, और उसी के आधार पर शास्त्री जी ने वंगाक्षरों में कीर्तिलता प्रकाशित की। इस संस्करण में शास्त्री जी ने कीर्तिलता का वंग-भाषान्तर और अंग्रेजी-अनुवाद भी प्रस्तुत किया। कीर्तिलता की भाषा अति प्राचीन है और उसमें तत्कालीन लोक प्रचलित शब्दों का भी बाहुल्य दिखाई पड़ता है, ऐसी अवस्था में ठीक-ठीक अर्थ कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य था; फिर भी शास्त्री जी ने बड़े परिश्रम के साथ यथासंभव सही अर्थ देने की कोशिश की, वे पूर्णतः सफल नहीं हो सके यह और बात है।

कीर्तिलता का हिन्दी संस्करण श्री बाबूराम सक्सेना के सम्पादन में ईस्वीय सन् १९२९ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। यह संस्करण शास्त्री के वंगीय संस्करण के बाद प्रकाशित हुआ और इस संस्करण के लिए सक्सेना जी के पास शास्त्री जी की अपेक्षा सामग्री भी अधिक थी; किन्तु अभाग्यवश यह संस्करण बंगला संस्करण से अच्छा और कम त्रुटि-पूर्ण नहीं हो सका।

हिन्दी संस्करण को तैयार करने में सक्सेना जी ने तीन प्रतियों का सहारा लिया है। 'क' प्रति जिसे महामहोपाध्य पं० गंगानाथ झा ने इस संस्करण के लिए नैपाल दर्बार की प्रति से नकल कराकर मँगाई थी। 'ख' प्रति जिसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने पं० महादेव प्रसाद चतुर्वेदी से अपने किसी कर्मचारी

के द्वारा प्राप्त किया था। तीसरी प्रति या प्रत्यन्तर शास्त्री जी का बंगला संस्करण है।

ऊपर जिस 'क' प्रति का जिक्र किया गया वह वही प्रति है जिसकी नक़ल कराकर शास्त्री जी नैपाल दर्बार से ले आए थे। इन दोनों प्रतियों में कोई महत्त्व-पूर्ण अन्तर नहीं दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं कुछ शब्दों में परिवर्तन अवश्य हुआ है जिसे लिपिकारों का दोष कह सकते हैं।

सक्सेना जी ने जिस 'ख' प्रति की चर्चा की है, अब वह प्राप्त नहीं है इसलिए उसके स्वरूप का निर्धारण हिन्दी संस्करण की पाद-टिप्पणियों में उक्त प्रति के उदाहरणों से ही किया जा सकता है। 'ख' प्रति के उदाहरणों से दो बातों का अनुमान होता है, पहला तो यह कि वह प्रति काफी परवर्ती है, क्योंकि इस प्रति में भाषा के रूप परवर्ती हैं। उदाहरण के लिए 'हरिज्जइ' के लिए 'हरिज्जै', 'पालइ' के लिए 'पालै', 'गुणइ' के लिए 'गुणै' आदि रूप मिलते हैं। भाषा को आसान बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। दूसरी बात यह है कि लिपिकार प्रवीण नहीं प्रतीत होता इसलिए बहुत कुछ निर्थरक और अस्पष्ट पाठ दिखाई देता है। लिपिकार अमैथिल तो है ही क्योंकि भाषा पर मैथिली की नहीं पूर्वी हिन्दी का प्रभाव ज्यादा स्पष्ट है। फिर भी यह प्रति कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'क' और शास्त्री दोनों ही प्रतियों के अस्पष्ट स्थानों को इस प्रति के सहारे ठीक करने में सहायता मिलती है।

प्रस्तुत संस्करण में इन सभी प्रतियों की सहायता ली गई है।

छन्दों की दृष्टि से पाठ-शोध

बंगला और हिन्दी के दोनों ही संस्करणों की सबसे बड़ी त्रुटि है मूलपाठ का छन्दों की दृष्टि से अनुचित निर्धारण। मूल प्रति जो नैपाल दर्बार में सुरक्षित है वह २६ पन्नों में है और ६ इंच लम्बे और ४½ इंच चौड़े इन पृष्ठों पर सात-सात पंक्तियाँ हैं। नकल करने वाले ने जैसा का तैसा कर दिया; किन्तु सम्पादकों ने इस गद्य-पद्य उभय प्रकारों में लिखी पुस्तक के सम्पादन के समय यह ध्यान नहीं दिया कि कौन हिस्सा गद्य है और कौन पद्य। छन्दों की दृष्टि से मध्यकालीन रचनाओं का सम्पादन थोड़ा दुस्तर भी है क्योंकि बहुतेरे छन्द जो उस काल में बहुप्रचलित थे, अब नहीं प्रयुक्त होते। दूसरी ओर गद्य भी अन्तर्तुकान्त होते हैं जिनमें पद्य का आभास होता है।

डा० सक्सेना के हिन्दी संस्करण में इस तरह के बहुत से गद्य दिखाई पड़ते हैं तो वस्तुतः पद्य हैं। सक्सेना जी के संस्करण से एक उदाहरण दिया जाता है।

किर्त्तिलद्ध सूर संगाम धम्म पराश्रण हिश्रश्र
विपश्र कम्म नहु दीन जम्पइ, सहज भाव सानन्द सुश्रण
भुंजइ जासु सम्पइ। रहसें दव्व दए विस्सरइ सत्तु
सरुश्र सरीर।
एत्ते लक्खण लक्खिश्रइ पुरुष पसंसश्रों वीर

(हिन्दी संस्करण, पृ० ६)

इस प्रकार के गद्य खण्ड प्रति पृष्ठ पर मिलेंगे विशेषतः तीसरे पल्लव में। शास्त्री जी ने इस तरह के अंशो को पद्य-बद्ध ही दिया है; किन्तु उनमें चरणों का कोई निर्धारण नहीं दिखाई पड़ता। जैसे ऊपर का उद्धृत अंश शास्त्री के प्रतिमें इस प्रकार है।

किर्त्तिलुद्ध सूर संगाम धर्म्मपराश्रण हियय विपश्रकम्म नहु दीन जम्पइ
सहज भाव सानन्द सुश्रन भुंजइ जासु सम्पइ
रहसें दव्व दए विस्सरइ सत्तु सरुश्र सरीर
एत्ते लक्खण लक्खिश्रइ पुरुष पसंसश्रो वीर

(बंगला संस्करण, पृष्ठ ३)

इसी प्रकार का एक अंश और देखिए; जिसमें शास्त्री जी को काफी गड़बड़ी हुई है।

जइ साहसहु न सिद्धि हो भंख करिव्वउं काह, होणा
होसइ एक्क पइ वीर पुरिस उच्छाह। श्रोहु राश्रो विश्रष्खन
तुम्ह गुणवन्त, श्रोह सधम्म तोंहें शुद्ध, श्रोहु सदय तोंहें रज्ज
खण्डिश्र, श्रो जिगीसु तोंहें सूर श्रोहु राज तोंहें रज्ज खंडिश्र
पुहवी पति सुरतान श्रो तुम्हें राजकुमार
एक चित्त जइ सेविश्रइ धुश्र होसइ परकार (वही पृष्ठ, २२)

जाहिर है कि शास्त्री ने यहाँ एक दोहा और एक तथाकथित गद्य खण्ड (१) एक में मिला दिया है। ऊपर दोहा है और नीचे भी दोहा किन्तु बीच में गद्य मालूम होता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि यह पाँच चरणों तथा एक दोहे का एक विचित्र छन्द है जो अपभ्रंश में बहुत परिचित रहा है। यह छन्द है रड्डा। रड्डा छन्द का लक्षण इस प्रकार है:

पढम विरइ मत्त दह पंच
पश्र बीश्र बारह ठवउ, तीश्र ठाँव दह पंच जाणहु
चारिम एग्गारहिं, पँचमे हि दहपंच माणहु

अट्ठा सट्ठा पूरवहु अग्गे दोहा देहु
राअसेण सुपसिद्ध इअ रड्ड भणिज्जइ एहु

प्राकृत पैंगलम्, पृष्ठ २२८

प्रति चरण में मात्राओं का क्रम यह है १५ + १२ + १५ + ११ + १५ + दोहा। प्रति चरण की मात्राओं में कुछ कमी-वेशी होने पर इस रड्डा के सात भेद हो जाते हैं।

१—१३ + ११ + १३ + ११ + १३ = करभी
२—१४ + ११ + १४ + ११ + १४ = नन्दा
३—१६ + ११ + १६ + ११ + १६ = मोहिन्दी
४—१५ + ११ + १५ + ११ + १५ = चारुसेनी
५—१५ + १२ + १६ + १२ + १६ = भद्रा
६—१५ + १२ + १५ + ११ + १५ = राजसेनी
७—१६ + १२ + १६ + ११ + १६ = तालंकिनी

कीर्तिलता में राजसेनी रड्डा ही प्रायः मिलता है। ऊपर रड्डा के लक्षण में जिस क्रम से चरणों को रखा गया है उसी क्रम से कीर्तिलता के ये गद्य खण्ड रड्डा छन्द में इस संस्करण में उपस्थित किये गए हैं।

गद्य और पद्य के इस निपटारे में एक गुर और बहुत सहायक हुआ है। कीर्तिलता में जहाँ कहीं भी शुद्ध गद्य है उसमें तत्सम संकृत पदावली का प्रचुर प्रयोग दिखाई पड़ता है, जहाँ इस तरह के प्रयोग दिखाई पड़ें आप आँख मूँद कर उसे गद्य कह सकते हैं, बाकी चाहे गद्यवत लिखा हो, वह निःसन्देह पद्य है। इस दृष्टि से मुझे आवश्यक जान पड़ा कि मैं कीर्तिलता के इस संस्करण में जहाँ जो छन्द हो उसे दे दूँ, गद्य को गद्य कह दूँ और बाकी भाग को छन्द के नाम के साथ उपस्थित करूं। इस प्रकार कीर्तिलता में निम्नलिखित छन्द मिलते हैं।

दोहा, रड्डा, गाथा, छपद, वाली, (मणवहला) गीतिका, भुजंगप्रयात, पद्मावती, निशिपाल, पज्झटिका, मधुभार, णाराज, अरिल्ल, पुमानरी, रोला, विद्युम्माला, आदि।

इस प्रसंग में मैं इस पाठ के एक दो विशेष स्थलों का ज़िक्र कर देना चाहता हूँ। तीसरे पल्लव में पंक्ति १९ से २८ तक के छन्द पर विचार कीजिए। इन पंक्तियों को देखने से मालूम होगा कि इसमें दो रड्डा छन्द टूट कर मिल गए हैं। प्रसंग और अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर लगेगा कि २२ से पचीस त

का रड्डा छन्द पूर्ण और त्रुटि-हीन है। पहले रड्डे का दोहा टूट कर नीचे (पंक्ति २७-२८) चला गया है। इस पल्लव में आरंभ से रड्डा छन्द शुरू होते हैं और दो रड्डा छन्दों के बीच में कोई दोहा अलग से नहीं दिया गया है, इस प्रसंग में यह दोहा फालतू लगता है, जो वस्तुतः ऊपर के रड्डे का भाग है।

इसी पल्लव में पंक्ति ८३-८४ पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि ये पंक्तियाँ प्रसंगहीन और छन्द की दृष्टि से अनावश्यक हैं, न तो ये ऊपर के निशिपाल छन्द में बैठती है न नीचे के छपद में। 'ख' प्रति में यह है ही भी नहीं।

छन्दों की दृष्टि से इस प्रकार व्यवस्था करने पर इस संस्करण में काफी सफाई मालूम होगी साथ ही प्रथम संस्करणों की भूलों का भी परिहार हो सका है। रड्डा छन्द के अलावा और भी कई छन्दों में पहले के संस्करणों में भ्रान्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

हिन्दी संस्करण में पृ० ३० पर (नागरी प्रचारिणी, १६२६)

वहुले भाँति वणिजार हाट हिण्डए जवे आवथि
खने एक सवे विक्कणथि सवे किछु किनइते पावथि

गद्य के नीचे की दो पंक्तिया हैं जो वस्तुत दूसरे पृष्ठ के छपद का प्रथम रोला है। इसी संस्करण में पृष्ठ २२ पर पंक्ति आती है :

जन्मभूमि को मोह छोड्डिअ, धनि छोड्डिअ

और नीचे दोहा आता है जो 'धनि छोड्डिअ' से शुरू होता है। ऊपर की पंक्ति का 'धनि छोड्डिअ' शायद सम्पादक ने गद्य की अन्ततुर्कान्त की प्रवृत्ति मानकर ठीक समझा किन्तु यह पूरा छन्द रड्डा है और इसमें मोह छोड्डिअ तक पाँचवा चरण पूरा हो जाता है और इसके बाद दोहा होना चाहिए। इस तरह 'धनि छोड्डिअ' की आवृत्ति निराधार प्रतीत होती है और कवि का दोष बन जाती है।

भाषा और अर्थ की दृष्टि से पाठ-शोध

कीर्तिलता की जो दो तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें बहुत बड़ा पाठान्तर दिखाई पड़ता है। इनमें एक रूपता नहीं दिखाई पड़ती। अतः कौन सा पाठ सही है कौन गलत इसका निर्णय करना कठिन है। फिर भी कुछ अंश तक अर्थ की दृष्टि से विचार करके तथा भाषा के रूप को देखते हुए कुछ सुझाव रखे जा सकते हैं। अर्थ निकालने के लिए शब्दों को बदलना अनुचित है किन्तु किसी प्रति के आधार पर कुछ अच्छा अर्थ निकलता हो तो प्रतियों में सामंजस्य स्थापित कर

लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से इस संस्करण में जिस पाठ को सही माना गया है उसके पीछे भाषा या अर्थ का कारण अवश्य रहा है। उदाहरण के लिए प्रथम पल्लव के आरंभ में संस्कृत ५वें श्लोक में 'श्रोतुर्दातुर्वदान्यस्य' शब्द आया है (हिन्दी संस्करण, नागरी० प्र० ४) किन्तु 'वदान्य' के साथ दातुः का कोई अर्थ नहीं बैठता, कीर्तिसिंह सुनने वाले, दान देने वाले और वदान्य हैं, यहाँ अन्तिम दो गुण वस्तुतः एक ही हो जाते हैं। मूलपाठ है ज्ञातुः। शास्त्री की प्रति में ज्ञातुः ही है। सुनने वाले, जानने वाले और वदान्य। कीर्तिलता की नीचे की पंक्ति बहुत प्रसिद्ध है :—

सक्कय वाणी बुहजन भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ (१९-२०)

सक्सेना जी के संस्करण में बहुजन दिया हुआ है। यहाँ लेखक 'देसिल वयन' के तारतम्य में संस्कृत और प्राकृत को कुछ कम कहना चाहता है। प्राकृत में रस का मर्म नहीं और संस्कृत को बहुत से लोग समझते हैं, यह तो कोई कहना नहीं हुआ। अर्थ है कि संस्कृत को केवल बुधजन (सीमित लोग) समझते हैं, 'बुहअन' पाठ शास्त्री में दिया हुआ है। "जहाँ जाइअ जेहे गाओ, भोगाइ राजा क वड्डि नाओ शास्त्री ने 'कवड्डिनाओ' कर के अर्थ किया है कि कौड़ी भी नहीं लगती। यहाँ सक्सेना जी का अर्थ ठीक है—राजाक वड्डि नाओ—राजा का बड़ा नाम था।

दूसरे पल्लव के (१७४—१७६) इस छपद में 'ततत क ता वा दरस' पाठ आता है। किन्तु 'ख' प्रति का जो पाठ है उसमें 'तत कइत खा वादि रम' आता जिसका कोई अर्थ नहीं किन्तु इसमें एक शब्द ज्यादा है 'खा' जो पहले पाठ में छूट गया है जिससे अर्थ नहीं निकलता। अब वह 'ततत कवावा खा दरम' हो गया जिसका अर्थ भी हो गया और छन्द की मात्राएँ भी ठीक हो गईं।

कई स्थानों में तो केवल अर्थ ठीक न कर सकने के कारण भयंकर गलतियाँ हो गई हैं।

तुरुक तोषारहिं चलल हाटभमि हेडा मंगइ
आडी दीठि निहार दवलि दाढ़ी थुकवाहइ
(नागरी प्र० पृष्ठ ४०)

अर्थ किया गया है :

तुरुक तोषार को ? चला तो बाज़ार में घूम-घूमकर देख देख कर (?)

(?) माँगता है आड़ी नज़र से देखकर दौड़कर दाढ़ी में थुकवाता है। इतना मूर्ख तो तुर्क क्या होगा ?

वस्तुतः ऊपरी पंक्ति में 'हेडा चाहइ'। निचली पंक्ति में थुक+वाहइ अलग अलग हैं। तुक भी ठीक है। अर्थ है कि तुर्क घोड़े से चलता है और टैक्स माँगता है। और जब क्रुद्ध होकर, तिरछी दृष्टि से देखते हुए दौड़ता है तो दाढ़ी से थूक बहता है।

देमान अवदगरु गद्दवर कुँरुवक वइसल अदप कइ

जनि अवहिँ सवहिँ वहु धाए के पकलि दे असलाण गइ (३।४४-४५)

इसमें ऊपर की पंक्ति कुछ अस्पष्ट है। सक्सेना जी ने इसके अर्थ नहीं किया; किन्तु शास्त्री जी ने अर्थ किया :

"सकले दर्य करिआ वसिल, माथापागला, दागावाज, असन्तुष्ट विद्रोह-कांक्षी" (बंगाली अनुवाद, पृ० २४)

देमान का शास्त्री ने दीवाना, अवदगल का दगावाज और गद्दवर का असन्तुष्ट विद्रोहकांक्षी अर्थ किया। किन्तु यह पंक्ति कुछ अस्पष्ट है। सुल्तान ने जब क्रोध करके असलान को पकड़ने की आज्ञा दी तब,

दीवान (मंत्री) अवदगल ? गद्दवर ? और कोरवेग (अस्त्र-शस्त्र का अधिकारी) सब अदब से खड़े होकर बैठे। लगता था जैसे अभी दौड़कर असलान को पकड़ देंगे।

आइने-अकबरी में अधिकारी वर्ग का विवरण खोजने पर कोरवेग शब्द मिला जो 'कुरुवक' के रूप में दिखाई पड़ता है, अदल का अर्थ सजा देने वाला होता है किन्तु गद्दवर क्या है मालूम न हो सका। इसलिए पाठ में इन शब्दों पर सन्देह का चिन्ह लगा दिया गया है।

चौथे पल्लव में

थप्प थप्प थनवार कइ सुनि रोमंचिअ अंग (पंक्ति २८)

थन+वार अलग अलग नहीं है और न इसका अर्थ सूम की थप-थप आवाज है, थनवार एक शब्द है और इसका अर्थ साईस हैं (स्थानपाल)।

घोड़ो के प्रसंग में 'कटक चांगुरे चांगु' आता है (पक्ति ४।४१) यह अंश प्रक्षिप्त है। इसका यहाँ कोई संदर्भ नहीं। शास्त्री की प्रति में यह है भी नहीं।

(४।११६) पंक्ति में क० शा० में 'भूलल भुलहिँ गुलामा' आता है। 'ख' का पाठ ज्यादा ठीक मालूम होता है—भूखल भवहिँ गुलामा, भूख से व्याकुल

गुलाम इधर-उधर घूमते हैं । १४० वीं पंक्ति के आगे 'बाट सन्तरि तिरहुति पइठ, तकत चह्नि सुरतान वइठ । ऊपर के गद्य का अंश है कोई पद्य नहीं, जैसा सक्सेना जी की प्रति में दिखाई पड़ता है ।

पंक्ति १५७—५८ में रोला छन्द है

पैरि तुरंगम गण्डक का पाणी
पर बल भंजन गरुअ महमद मदगामी

(सक्सेना संस्करण, पृष्ठ १००)

ऊपर के रोले को देखने से स्पष्ट लगता है कि ऊपर की पंक्ति में ६ मात्राएँ कम हैं ख प्रति में पंक्ति है पवरि तुरंगम भेलि गण्डक के पाणी इसमें भी तीन मात्राएँ कम हैं, फिर भी 'भेलि' शब्द अधिक है—भेलि के बाद शायद 'पार' रहा होगा जो छूट गया है । शास्त्री की प्रति में भी यह पंक्ति 'क' जैसी ही है ।

पैरि तुरंगम भेलि पार गण्डक का पाणी
पर वल भंजनिहार मलिक महमद्द गुमानी

नीचे की पंक्ति भी 'ख' में आती है जो शास्त्री और 'क' प्रतियों की ऊपर-लिखित पंक्ति की अपेक्षा ठीक मालूम होती है । एक तो इसमें असलान का सूचक 'मलिक' शब्द आ जाता है दूसरे तुक भी ठीक बैठता है ।

इस प्रकार संस्करण में अर्थ और भाषा की दृष्टि से पाठ शोध का प्रयत्न किया गया है, ऊपर दिये गए उदाहरणों के अलावा और भी वीसियों स्थानों पर पाठ-निर्धारण का प्रयत्न दिखाई पड़ेगा ।

इस संस्करण की सबसे बड़ी विशेषता हिन्दी अनुवाद की है । यह नहीं, कहा जा सकता कि यह अनुवाद एकदम सही ही है; पर अपभ्रंश, अवहट्ठ की रचनाओं आइने-अकबरी तथा फारसी कोशों की मदद से यथा संभव ठीक अर्थ निकालने का प्रयत्न अवश्य हुआ है । साथ ही कीर्तिलता में प्रयुक्त शब्दों की एक वृहद शब्दसूची भी दे दी गई है । जो भाषाशास्त्र के अध्येताओं तथा कीर्तिलता के सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी ।

कीर्तिलता के आधार पर विद्यापति का समय

भारत के अन्य बहुत से श्रेष्ठ कवियों की भाँति विद्यापति का तिथि-काल भी अद्यावधि अनुमान का विषय बना हुआ है। यद्यपि विद्यापति का सम्बन्ध एक विशिष्ट राजघराने से था, और इस कारण वे मात्र कवि नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं, किन्तु अभाग्यवश इतने प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है, जिस पर मतैक्य हो सके।

विद्यापति की जीवन-तिथि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः जीवन-तिथि के निर्धारण का कार्य मात्र अनुमान का विषय रह जाता है। विद्यापति के पिता गणपति ठक्कुर राजा गणेश्वर के सभासद थे और ऐसा माना जाता है कि विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में कई बार गए थे। उस समय उनकी अवस्था आठ-दस साल से कम तो क्या रही होगी। कीर्तिलता से मालूम होता है कि राजा गणेश्वर लक्ष्मण सम्वत् २५२ में असलान द्वारा मारे गए। इस आधार पर चाहें तो कह सकते हैं कि विद्यापति यदि उस समय दस बारह साल के थे तो उनका जन्म लक्ष्मण सम्वत् २४२ के आस-पास हुआ होगा। सबसे पहले श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने विद्यापति पदावली (बंगला संस्करण) की भूमिका में लिखा कि २४३ लक्ष्मण सम्वत् को राजा शिवसिंह का जन्म काल मान लेने पर हम मान सकते हैं कि कवि विद्यापति का जन्म लक्ष्मण सम्वत् २४१ के आस-पास हुआ होगा। क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि शिवसिंह पचास वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और विद्यापति अवस्था में इनसे दो साल बड़े थे। इसी के आधार पर विद्यापति का जन्म सम्वत् २४१ (लक्ष्मण) में अर्थात् ईस्वी सन् १३६० में हुआ, ऐसा मान लिया गया।

जन्म-तिथि-निर्धारण के विषय में किसी वाह्य साक्ष्य के अभाव की अवस्था में हमें अन्तर्साक्ष्य पर विचार करना चाहिए। कीर्तिलता पुस्तक से यह मालूम नहीं होता है कि यह विद्यापति की प्रारम्भिक रचनाओं में एक है। विद्यापति ने इस ग्रंथ में अपनी कविता को बालचन्द्र की तरह कहा है :

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ (२। ६-१२)

इस पद से ऐसा ध्वनित है कि इसके पहले विद्यापति की कोई महत्त्वपूर्ण रचना प्रकाश में नहीं आई थी। पर कवि की इन पक्तियों से अपनी कविता के विषय में उसका विश्वास झलकता है और यह उक्ति यों ही कही गई नहीं मालूम होती। कवि कहता है कि यदि मेरी कविता रसपूर्ण होगी तो जो भी सुनेगा, प्रशंसा करेगा। जो सज्जन हैं, काव्य रस के मर्मज्ञ हैं, वे इसे पसन्द करेंगे; किन्तु जो स्वभावेन असूया-वृत्ति के हैं वे निन्दा करेंगे ही। इस निन्दा वाली पंक्ति से कुछ लोग सोच सकते हैं कि किसी प्रारम्भिक रचना की निन्दा हुई होगी। पर सज्जन प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा कोई नई बात नहीं, यह मात्र कवि परिपाटी है। यहाँ बालचन्द्र निष्कलंकता और पूजार्हता द्योतित करने के लिए प्रयुक्त लगता है।

अब यदि हमें कीर्तिलता के निर्माण का समय मालूम हो जाय तो हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि विद्यापति उस समय प्रसिद्ध कवि हो चुके थे। कीर्तिलता के कथा-पुरुषों में कीर्तिसिंह मुख्य हैं। कीर्तिलता पुस्तक महाराज कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्वल करने के लिए लिखी गई थी। कीर्तिलता से यह भी मालूम होता है कि कीर्तिसिंह ने जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का राज प्राप्त किया जिसे लक्ष्मण सम्वत् २५२ में मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का वध करके हस्तगत कर लिया था। इस कथा में दो घटनाएं ऐतिहासिक महत्त्व की आती हैं। पहली तो असलान द्वारा राजा गणेश्वर का वध और दूसरी इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार।

लक्ष्मण सेन सम्वत् कब प्रारम्भ हुआ, इस पर भी विवाद है। इस समस्या पर कई प्रसिद्ध इतिहास विशेषज्ञों ने विचार किया है; परन्तु अब तक कोई निश्चित तिथि पर सबका मतैक्य नहीं है। श्री कीलहार्न ने इस विषय पर बड़े परिश्रम के साथ विचार किया[1]। उन्होंने मिथिला की छः पुरानी पाण्डुलिपियों के आधार पर यह विचार दिया कि लक्ष्मण सम्वत् को १०४१ शाके या १११६ ईस्वी सन् में प्रथम प्रचलित मानने से पाण्डुलिपियों में अंकित

---

१. इंडियन एंटिक्वैरी भाग १६, सन् १८६० ई० पृष्ठ ७

तिथियाँ प्रायः ठीक बैठ जाती हैं। छः पाण्डुलिपियों में एक को छोड़ कर बाकी की तिथियों में कोई गड़बड़ी नहीं मालूम होती। पश्चात् श्री जायसवाल ने डेढ़ दर्जन के लगभग प्राचीन मैथिल पाडुलिपियों की जाँच करके यह मत दिया कि लक्ष्मण सेन सम्वत् में १११६ जोड़ने पर हम तत्कालीन ईस्वी साल का पता लगा सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि ऊपर की संख्या केवल कर्णाट या ओइनीवार वंश तक के ऐतिहासिक कागज़-पत्रों की तिथियों के लिए ही सही है वाद की ऐतिहासिक तिथियों की जानकारी के लिए उक्त संख्या में क्रमशः दो वर्ष कम कर देना होगा यानी जायसवाल के मत से १५३० ईस्वी के पहले की तिथियों के लिए लक्ष्मण सम्वत् में १११६ जोड़ने से तत्कालीन ईस्वी सन् का पता लगेगा परन्तु बाद की तिथियों के लिए ११०८-६ जोड़ना आवश्यक होगा।[1] बहुत से विद्वान लक्ष्मण सम्वत् का प्रारम्भ ११०६ में ही मानते हैं। इस तरह ११०६ से १११६ तक के काल में अनिश्चित ढग से कभी लक्ष्मण सम्वत् का आरम्भ बताया जाता है। ऐसी स्थिति में २५२ लक्ष्मण यानी राजा गणेश्वर की मृत्यु का वर्ष १३५८ ईस्वी से १३७१ के बीच में पड़ेगा।

दूसरी ऐतिहासिक घटना इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार है। जौनपुर में इब्राहिम शाह नाम का मुसलमान शासक अवश्य था और उसका राज्य काल भी निश्चित है। १४०२ ईस्वी में इब्राहिम शाह गद्दी पर बैठा। तभी कीर्तिसिंह के आवेदन पर वह तिरहुत में असलान को दण्ड देने गया होगा। अतः इब्राहिम शाह के तिरहुत जाने का समय १४०२ ईस्वी के पहले नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है।

ज्यादा से ज्यादा १३७१ में गणेश्वर राय की मृत्यु और उसके ३१ वर्ष के बाद इब्राहिम शाह का मिथिला आगमन बहुत से विद्वानों को खटकता है। इसलिए इस व्यवधान को समाप्त करने के लिए कई तरह के अनुमान लगाए जाते हैं।

सबसे पहले डा० जायसवाल को यह व्यवधान खटका और उन्होंने इसको दूर करने के लिए एक नया उपाय निकाला। कीर्तिलता में २५२ लक्ष्मण सम्वत् की सूचना देने वाला पद्य निम्न प्रकार है।

लक्खन सेन नरेस लिहिअ जबे पक्ख पञ्च वे (की० २।४)

महामहोपाध्याय पं० हर प्रसाद शास्त्री ने इसका अर्थ किया था कि जब लक्ष्मण

---

1. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग २०, पृष्ठ २० एफ० एफ०

सेन का २५२ लिखित हुआ। जायसवाल ने इसे ठीक नहीं माना और उन्होंने 'ज बे' का अर्थ ५२ किया और इसे २५२ में जोड़कर इस वर्ष की संख्या ३०४ लक्ष्मण सेन ठीक किया अर्थात् १४२३ ईस्वी।[१]

'ज बे' स्पष्टरूप से समय सूचक क्रियाविशेषण अव्यय है, इसे खींच-तान करके वर्ष-गणना का माध्यम बनाना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः जो समय व्यवधान जायसवाल को खटक रहा था, वह सत्य था और ३१ वर्ष के बाद ही इब्राहिम शाह तिरहुत आया, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं मालूम होती। उलटे जायसवाल जी की नई गणना से कई ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। उन्हीं के बताए काल को सही मानें तो राजा कीर्तिसिंह १४२३ या २४ ईस्वी में गद्दी पर बैठे होंगे। ऐतिहासिकता यह है कि राजा शिवसिंह को २६१ लक्ष्मण सम्वत् में राजाधिराज कहा गया है। यदि गणेश्वर ३०४ लक्ष्मण सम्वत् में मरे, जब कि वे स्वयं राजाधिराज थे, तो शिवसिंह का उनके पहले राजाधिराज हो जाना असत्य हो जाता है।

इधर समय के इस व्यवधान पर डा० सुभद्र झा ने भी गंभीरता से विचार किया है।[२] उन्होंने डा० जायसवाल के मत को ठीक नहीं माना है और लक्ष्मण सम्वत् २५२ में राजा गणेश्वर की मृत्यु स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने कहा है मृत्यु के बाद ही कीर्तिसिंह अपने भाई के साथ अपने पिता के शत्रु से बदला लेने के लिए इब्राहिम शाह के पास गए। चूँकि जौनपुर में इब्राहिम शाह नामक कोई शासक १४०२ के पहले नहीं हुआ इसलिए डा० सुभद्र झा ने माना है कि कीर्ति सिंह जौनपुर नहीं जोनापुर गए जो लिपिकार की ग़लती से जोइनिपुर के स्थान पर लिख गया है। उन्होंने जार्ज ग्रियर्सन की रचना [टेस्ट आव् मैन, टेल्स नं० २-४१] में प्रयुक्त 'योगिनीपुर को' जिसे ग्रियर्सन से पुरानी दिल्ली कहा है, जोनापुर का सहीरूप बताया है। डा० सुभद्र झा को योगिनीपुर के पक्ष में कीर्तिलता में ही प्रमाण भी मिल गया।

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेखल जओन नीर पखारिआ (की० २७६)

श्री झा का कहना है कि इस पंक्ति में 'जओन' शब्द का अर्थ यमुना है। विद्या-पति के पदों में 'जउन' और 'जउनि' दो शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ यमुना

---

१. जायसवाल, दि जर्नल आव् बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भाग १३, पृ० २११।

२ सुभद्र झा, सांग्स आव् विद्यापति, भूमिका, पृष्ठ० ४१-४२।

है। ऐसी स्थिति में उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—"नगर, जो यमुना के जल से प्रक्षालित था, सुन्दर मेखला की तरह मालूम होता था।" तय है कि ऐसी अवस्था में यह शहर जौनपुर नहीं हो सकता। यह अवश्य दिल्ली था किन्तु दिल्ली में डा० झा को उस समय के किसी इब्राहिमशाह का पता नहीं चला इसलिए उनका कहना है कि इब्राहिमशाह अवश्य फीरोज़ तुग़लक का कोई अप्रसिद्ध सेनापति रहा होगा। फीरोज़शाह और भोगीश्वर का सम्बन्ध भी यहाँ एक प्रमाण हो सकता है (कीर्ति०) किन्तु कीर्तिसिंह ने कीर्तिलता में कई जगह इब्राहिमशाह को 'बादशाह' या 'सुल्तान्' कहा है, फिर एक अप्रसिद्ध सेनापति को ऐसा कहना ठीक नहीं मालूम होता। इस कठिनाई को श्री झा ने दूर कर दिया है। उनका कहना है कि आदर के लिए ऐसा कहा जा सकता है। जैसा मिथिला में राजा के भाई, या राजघराने के किसी व्यक्ति को 'राजाधिराज' कह दिया जाता है।

इस तरह झा के मत से जोनापुर, योगिनीपुर (पुरानी दिल्ली) था जो जओन (यमुना) के नीर से प्राक्षालित था और जहाँ फीरोजशाह बादशाह था जिसका सेनापति कोई अप्रसिद्ध इब्राहिमशाह था जिसे कीर्ति सिंह आदर के लिए बादशाह भी कहा करते थे।

इस दूरारूढ़ कल्पना के लिए डा० सुभद्र झा के पास दो आधार हैं। पहला ग्रियर्सन के टेस्ट आव् मैन की दो कहानियों में आया योगिनीपुर शब्द जिसे उन्होंने पुरानी दिल्ली का कथा कहानियों में आने वाला नाम या कुछ ऐसा ही कहा होगा। अगर मान भी लें कि यह योगिनीपुर दिल्ली का ही उस समय का नाम है तो फिर इसका 'जोनापुर' हो जाना अवश्य कठिन है।

अब रहा शब्द 'जओन' जिसे डा० झा ने यमुना कहा है। प्राकृत में यमुना का 'जउँणा' हो जाता है [प्राकृत व्याकरण ४। १। १७८] इसलिए 'जओन' हो सकना नितान्त असम्भव तो नहीं है। पर देखना होगा कि वस्तुत यह शब्द है क्या? कीर्तिलता में एक पंक्ति आती है:—

फरमान भेलि, कओण साहि (२। २०)

यहाँ 'कओण' का अर्थ है कौन। जिसका अपभ्रंश में कवण रूप मिलता है। कीर्तिलता में ही कवण (१। १३) कमण (२। २५३) रूप मिलते हैं। यह कओन < कवण < कः पुनः का विकसित रूप है।

इसी तरह 'जओन' जिसका अर्थ है जौन यानी जो। 'जवन' का प्रयोग

तो आज भी पूर्वी हिन्दी में पाया जाता है। कवण कओन की तरह ही जवण, जओन रूप भी मिलते हैं। ऐसा ही एक शब्द और है।

जेओन दरबार मेओगो (२/२३६) यानी जिस दरबार में। बाबू राम सक्सेना ने इसकी व्युत्पत्ति (जेओन∠जेमुना) से की है।

इस तरह हमने देखा कि यहाँ जेओन का अर्थ यमुना नदी नहीं है। 'ख' प्रति में तो स्पष्टतः जौन लिखा हुआ है।

इब्राहिम शाह की जैसी निराधार कल्पना डा० सुभद्र झा ने की है, वह तो हास्यापद कोटि तक पहुँच जाती है। कीर्तिलता में जिस इब्राहिम शाह का जिक्र है वह जौनपुर (उत्तर प्रदेश) का प्रसिद्ध इब्राहिम शाह ही था। राजा गणेश्वर की मृत्यु १३७१ ई० में हुई और कीर्तिसिंह इब्राहिम शाह को १४०२ ई० में तिरहुति ले आए, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं है। ३१ वर्ष के मध्यान्तरित समय में कीर्तिसिंह कुछ कर नहीं सकते थे क्योंकि वे उस समय काफी छोटे रहे होंगे, और फिर कुछ कर सकने के लिए अवसर की भी अपेक्षा होती है। उस समय की मिथिला के विषय में विद्यापति ने लिखा है कि चारों ओर अराजकता फैली थी, ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने घरों पर कब्जा कर लिया। भृत्यों ने स्वामियों को पकड़ लिया, धर्म नष्ट हो गए, काम धन्धे ठप्प हो गए, जाति-अजाति में शादियाँ होने लगी, कोई काव्य रस का समझने वाला न रहा कवि लोग भीखारी होकर इधर-उधर घूमते रहे। जाहिर है ऐसी अवस्था तुरन्त नहीं हो जाती। इस तरह के सांस्कृतिक विनिपात में कुछ समय लगता ही है। इस तरह की संस्कार-हीनता एक साल में ही नहीं हो जाती, तय है कि इस प्रकार तिरहुत से गुणों के तिरोहित होने में कुछ समय लगाहोगा

अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कवि कुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा' गणेस जब सग्ग गउँ

(२/१४-१५)

विद्यापति भी उस समय छोटे रहे होंगे; जौनपुर के वर्णन से लगता है कि विद्यापति ने भी नगर देखा था, संभवतः राजा के साथ गए हों, क्योंकि जौनपूर का ऐसा बिम्बपूर्ण चित्रण बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के संभव नहीं है। ये सब दस-ग्यारह बर्ष के विद्यापति से तो कभी संभव नहीं हो सकता। मेरा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की अवस्था तीस-पैंतीस के आस पास रही होगी, इसी से मैंने पहले ही कहा कि कीर्तिलता को प्रथम रचना मानना ठीक नहीं है।

इस दिशा में 'सर्च रिपोर्टों' के अनुशीलन के समय मुझे लक्खन सेनि कवि की कुछ पँक्तियाँ दिखाई पड़ीं। लक्खनसेनि कवि का रचना काल १४८१ सम्वत् दिया हुआ है यानी १४२४ ईस्वी, रचनाकार जौनपुर के बादशाह इब्राहिम शाह का समकालीन है, और उसने बादशाह के प्रताप की प्रशंसा भी की है, यही नहीं तत्कालीन भारत की अवस्था का जो चित्रण लक्खनसेनि ने खींचा है वह आश्चर्य-जनक रूप से विद्यापति के वर्णन से मेल खाता है।

बादशाह जे वीराहिमसाही, राज करइ महि मंडल माही
आपुन महावली पुहुमी धावै, जउनपुर मँह छत्र चलावै
सम्वत चौदह सइ एक्कासी, लक्खनसेनि कवि कथा प्रगासी

'जउनपुर' के इब्राहिम शाह का काल १४२४ ईस्वी तक तो था ही। इसी के साथ लक्खन सेनि कुछ और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का ज़िक्र करता है।

जैदेव चले सर्ग की बाटा औ गए घघ सुरपति भाटा
नगर नरिंद्र जे गए उनारी वीद्यापति कइ गए लाचारी

इन पंक्तियों से लगता है कि १४२४ ईस्वी तक विद्यापति का शायद स्वर्गवास हो गया था क्योंकि उनका नाम जयदेव और घाघ के साथ ही कवि ने लिया है और जयदेव को तो स्पष्ट ही 'स्वर्ग की वाट' गए लिखा है। किन्तु इस तिथिकाल को विद्यापति का अन्तिम समय मानने में कठिनाई दिखाई पड़ती है। फिर भी यह एक विचारणीय सवाल तो है ही। वैसे कहा जाता है विद्यापति ने लक्ष्मण सम्वत् २६६ यानी १४१८ ईस्वी में राजा पौरादित्य के 'लिखनावली का निर्माण किया और यहीं ३०६ लक्ष्मण संम्वत् यानी १४२८ ई० में भागवत की एक प्रति लिखना समाप्त किया। यही ईस्वी सन को १११६ जोड़कर निश्चित किया गया है। और इस तरह लखनसेनि का १४२४ वाला काल ठीक नहीं बैठता। विद्वानों ने इस दिशा में कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विचार किया है, इसी दिशा में मैं एक प्रमाण लखनसेनि का भी प्रस्तुत करता हूँ, अस्तु।[१]

---

१. लखनसेनि की रचना हरिचरित्र विराट पर्व का वर्णन १६४४-४६ की सर्च रिपोर्ट (नागरी-प्रचारी सभा, अप्रकाशित) में दिया हुआ है। रिपोर्ट का अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छपा भी है।

कीर्तिलता का साहित्यिक मूल्याङ्कन

मध्यकालीन कवियों में विद्यापति का व्यक्तित्व अपने ढंग का अनोखा है। विक्रम की बारहवीं शताब्दि से १६ वीं तक का चार सौ वर्षों का समय भारतीय वाङ्मय का सर्वाधिक प्रभा-दीप्त और महिमा-मण्डित काल है। इन शताब्दियों के संस्कृत साहित्य में जब कि चमत्कार और कुतूहल को ही कवि-कर्म की इयत्ता मान लिया गया, दार्शनिक ज्ञान से आकुंठित साहित्य प्रतिभा जन धारा से विच्छिन्न होने लगी, शाब्दिक कौशल और शास्त्रों के पृष्ठ-पेषण को ज्यादा महत्त्व दिया जा रहा था, तभी अपभ्रंश एवं अन्य जन-भाषाओं में एक नवीन प्रकार के साहित्य का उदय हो रहा था जिसमें धरती के स्वरों का स्पन्दन सुनाई पड़ता था, मानवीय सुख-दुख की व्यंजना होती थी, और सरल-सस्मित ढंग से मनुष्य के हृदय की बात को स्वर देने की कोशिश की जाती थी। १२वीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य के कुछ स्वच्छन्द कवियों जयदेव आदि ने इस जन-प्रभाव को ग्रहण किया जिससे संस्कृत वाङ्मय में भी इस सोंधी गंध की एक लहर दिखाई पड़ी। मध्यकालीन भारतीय साहित्य के अध्येता के सामने भाषा-कवियों की एक ऐसी कतार दिखाई पड़ती है जो हमारे वाङ्मय के मंच पर तो अद्वितीय है ही, विश्वसाहित्य में भी एक साथ इतने श्रेष्ठ कलाकार उत्पन्न हुए, इसमें सन्देह है। बंगाल में चण्डीदास, असम में शंकर देव, विहार में विद्या पति, मध्यदेश में कबीर, सूर और तुलसी, राजस्थान में मीराँ, गुजरात में नरसी मेहता इस साहित्य-उत्थान के प्रेरक थे। इनमें 'को बड़ छोट कहत अपराधू' सभी का व्यक्तित्व एक से एक बढ़कर आकर्षक और मोहक है; फिर भी अपनी कविता की अतीव मृदुता, जन जीवन के अन्तर्तम में सोए मधुर भावों को जगाने की क्षमता, और हजारों मनुष्यों के कंठ में कूक उत्पन्न करने की शक्ति के कारण विद्यापति का व्यक्तित्व इन सबमे सर्वाधिक रोमेंटिक और गत्वर है। विद्यापति के गीतों ने तत्कालीन जनता के म्रियमाण मन को जीने की ताकत दी उन्होंने जीवन के ताजे स्वरों को पहचाना और उन्हें अपनी मधुरा भाव धारा में पखार कर दिव्यता प्रदान की।

कीर्त्तिलता भी विद्यापति की ही कृति है। किन्तु गीतों के रस में पगा पाठक एक बार तो शायद यह विश्वास भी न कर सकेगा कि 'कीर्तिलता' को

गीतकार विद्यापति ने ही लिखा है। किन्तु 'अवहट्ठ' की हठीली शब्द-योजना के भीतर प्रवेश करने पर किसी भी सहृदय को 'गीतों के गायक' को पहचान सकना कठिन न होगा। जीवन की समष्टि और समग्रता कल्पना के एक क्षण की तुलना में कठोर-क्रूर होती ही है, और कवि के लिए तो यह सहसा एक चुनौती भी है कि उसकी विधायिका शक्ति इन तमाम क्रूरता-कठोरता को कैसे अभिव्यक्ति दे पाती है। इस दृष्टि से कीर्तिलता के पाठक को एक नए तरह के रस का आस्वाद मिलेगा। इसमें जीवन की तिक्तता, कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। विद्यापति का भावुक कवि जैसे कीर्तिलता में जीवन के वास्तविक धरातल पर उतर आया है। और यथार्थ का यह धरातल एक बार के लिए कवि के मन में भी आशंका का बीजारोपण कर ही देता है : फिर भी उनके मन को विश्वास है कि चाहे असूया-वृत्ति के दुर्जन इस काव्य की निन्दा ही क्यों न करें, काव्य कला के मर्मी इसकी अवश्य प्रशंसा करेंगे।

का परवोधओ कवण मणावओ। किमि नीरस मने रस लए लावओ॥
जइ सुरसा होसइ मझु भासा। जो बुज्झिह सो करिह पसंसा॥

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल

शंकर के मस्तक पर सुशोभित द्वितीया के चन्द्रमा की तरह विद्यापति की यह कृति प्रशंसित होगी, ऐसा कवि का विश्वास है और इसमें सन्देह नहीं कि उनका यह विश्वास आधार-हीन नहीं है।

कीर्तिलता का काव्य-रूप

मध्यकाल के साहित्य में वृत्तान्त-कथन की तीन प्रमुख शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं। परवर्ती संस्कृत साहित्य के चरित काव्य या ऐतिहासिक काव्यों की शैली, दूसरी कथा-आख्यायिकाओं की शैली और तीसरी प्रेमाख्यानकों की मसनवी शैली जो पूर्णतः विदेशी प्रभाव से विकसित हुई थी।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की शैली भी बहुत प्राचीन नहीं मालूम होती। विद्वानों की धारणा है कि ६वीं ७वीं शताब्दि के आस-पास मुसलमानों के सम्पर्क से इस प्रकार की शैली का उदय हुआ। यह सत्य है कि पिछले खेवे में जिस प्रकार के ऐतिहासिक काव्य लिखे गए वैसे काव्य पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं

मिलते किन्तु इतिहास को कल्पना और अतिशयोक्ति के आवरण में सही ही, काव्य का उपकरण अवश्य समझा जाता था। भारतीय कवि इतिहास की घटनाओं को भी अतिमानवीय परिधान दे देते थे जिससे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इसमें कितना अंश इतिहास का है और कितना कल्पना का। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया, बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। युद्ध में दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक बना दिया गया है जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल।

वस्तुतः ऐतिहासिक काव्यों का उदय सामन्तवाद की देन है। भारत में भी ईसा की दूसरी शताब्दि से ही राजस्तुति परक रचनाओं का निर्माण शुरू हो गया था। मैक्समूलर ने ईसा की पहली से तीसरी तक के काल को अंधेरा युग कहा है क्योंकि उनको इन शताब्दियों में अच्छे काव्य का अभाव दिखाई पड़ा। मैक्समूलर के मत के विरोध में डाक्टर ब्यूलर ने कहा कि इस काल में अत्यन्त सुन्दर स्तुति काव्यों की रचना होती थी, अभाग्यवश हमें कोई वैसा काव्य नहीं मिल सका है किन्तु शक क्षत्रप रुद्रदामन् का गिरनार का शिलालेख (ई० १५०), कविवर हरिषेण की लिखी प्रशस्ति (समुद्रगुप्त ३५० ई०) जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया गया है तथा ईस्वी सन् ४७३ ईस्वी में लिखी वत्सभट्टि को मन्दसोर की प्रशस्ति इस प्रकार की स्तुतिपरक ऐतिहासिक रचनाओं की ओर संकेत करती हैं। कवि वत्सभट्टि ने चालीस श्लोकों में जो मनोरम प्रशस्ति प्रस्तुत की है वह महत्वपूर्ण लघु काव्य है, जिसमें भाव, भाषा सभी कुछ उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। फिर भी इतना तो सत्य है कि बाणभट्ट के हर्षचरित के पहले इस प्रकार के स्तुतिपरक ऐतिहासिक काव्यों का कोई सन्धान नहीं मिलता। हर्ष चरित को भी वास्तविक अर्थ में काव्य नहीं कह सकते, यह आख्यायिका है। संस्कृत का सबसे पहला ऐतिहासिक काव्य पद्मगुप्त परिमल का लिखा नवसाहसाङ्कचरित (१००५ ई०) है जिसमें धारानरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज और शशिप्रभा नामक राजकुमारी के विवाह की कथा वर्णित है। चालुक्य वंशी नरेन्द्र विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के सभा कवि विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में अपने आश्रयदाता के चरित्र तथा उसके वंश का वर्णन किया है। इसके बाद तो ऐतिहासिक काव्यों की एक परम्परा

ही चल पड़ी और चरित्र, विजय, विलास आदि नामों से कई ऐतिहासिक काव्य लिखे गए जिनमें कल्हण की राजतरंगिणी (१०५० ई०), हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित (१०८६ ई० ११७३ ई०) वस्तुपाल के सभा कवि सोमेश्वर की (कीर्ति कौमुदी ११७६-१२६२) अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन (वस्तुपाल) आदि महत्त्वपूर्ण रचनाए हैं। दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रसूरि ने चौदह सर्गों में 'हम्मीरमहाकाव्य' लिखा तथा १६वीं शताब्दि के अन्तिम भाग में अकबर के सामन्त राजा सुरजन की प्रशंसा में गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर ने 'सुरजन चरित' की रचना की। इसी तरह विजयनगर के नरेशों की प्रशंसा में राजनाथ डिंडिम ने 'अच्पुतरायाभ्युदय', तथा कम्पराय की रानी गंगादेवी ने अपने पति की प्रशंसा में 'मधुराविजय' का प्रणयन किया। जयानक का लिखा 'पृथ्वीराज विजय' की भी एक अधूरी प्रति मिली है जो ओझा जी द्वारा सम्पादित होकर अजमेर से प्रकाशित हुई है।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की यह परंपरा थोड़ी-बहुत परिवर्तित रूप में प्राकृत और अपभ्रंश में भी दिखाई पड़ती है। यशोवर्मा के सभापंडित वाक्पतिराज का गउडवहो अपनी शैली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। अपभ्रंश के रासो ग्रंथ भी एक प्रकार के ऐतिहासिक काव्य ही हैं यद्यपि इनमें कल्पना का रंग ज्यादा गाढ़ा है।

कीर्तिलता भी एक ऐतिहासिक काव्य है। कवि विद्यापति ने अपने आश्रय-दाता कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए इस काव्य की रचना की। यह एक चरित-काव्य है।

राय चरित्त रसालु यहु णाह न राखहिं गोइ
क्वन वंस को राय सोकित्तिसिंह को होइ

भृंगी के इस प्रश्न पर भृंग ने कीर्तिसिंह के चरित्र का उद्घाटन किया। कीर्तिलता एक छोटी सी रचना है इसलिए इसमें चरित काव्यों की तमाम प्रवृत्तियों का मिलना कठिन है। मध्यकालीन चरित काव्यों में कथानक रूढ़ियों का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार की कथानक रूढ़ियों में एकाध ही कीर्तिलता में मिलती हैं। उदाहरण के लिए कीर्तिलता संवाद-पद्धति पर लिखी गयी है, भृंगी शंका करती है, भृंग उसका उत्तर देता है। रासो के शुक-शुकी सम्वाद की तरह यह भी संवाद है किन्तु यहाँ भृंग-भृंगी वक्ता श्रोता के रूप में ही बने रहते हैं नायक की आपद-विपद में सहायता करने के लिए दौड़ते नहीं। इस प्रकार यद्यपि

विद्यापति ने एक बहुत प्रचलित रूढ़ि का सहारा लिया है किन्तु उसे खींचकर अस्वाभाविकता की सीमा तक ले जाना स्वीकार नहीं किया।

मध्यकाल के तमाम चरित काव्यों में कीर्तिलता का स्थान इसीलिए विशिष्ट है कि लेखक ने कल्पना और अतिरंजना का कम से कम सहारा लिया है। ऐतिहासिक घटनाओं की यथातथ्यता के प्रति जितना सतर्क विद्यापति दिखाई पड़ते हैं, उतना उस काल का दूसरा कोई कवि नहीं। ऐसा नहीं कि उन्होंने नायक की युद्ध-वीरता आदि के वर्णन में अतिरंजना का सहारा लिया ही नहीं है, लिया है और खूब लिया है, किन्तु कथा के नियोग में अस्वाभाविक घटनाओं का कहीं भी समावेश नहीं किया गया है। केवल रूढ़ियों के निर्वाह के लिए या पाठकों को कथा-रस का आनन्द देने के लिए अवान्तर घटनाओं, प्रेम-व्यापार, भूत-परियों, आदि को इसमें कहीं भी स्थान नहीं है। चरित-काव्यों की तरह इसमें भी आरंभ में सज्जन-प्रशंसा और खल-निन्दा के रूप कुछ पंक्तियाँ दी गई हैं।

सुअण पसंसइ कव्व मझु दुज्जन बोलइ मन्द
अवसओ विसहर विस बमइ अमिअ विमुक्कइ चन्द

सज्जन पुरुष चन्द्रमा की तरह हैं जो अमृत-वर्षण करते हैं किन्तु खल तो विषधर है उनका काम ही विष-वमन करना है; किन्तु

वालचन्द विद्यावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ

कवि को अपनी प्रतिभा पर अटूट विश्वास है, वह जानता है कि द्वितीया के के निष्कलंक चन्द्रमा पर दुर्जन का उपहास नहीं लग सकता वह तो शंकर के मस्तक पर सुशोभित होगा ही।

खल निन्दा और सज्जन-प्रशंसा आदि की परिपाटी पूर्ववर्ती काव्यों में तो है ही तुलसी के मानस आदि परवर्ती काव्यों में भी दिखाई पड़ती है। चरित काव्यों में मुख्य रूप से आखेट, प्रेम और युद्ध का वर्णन होता है। कीर्तिलता में अधिकांश युद्ध या युद्ध के लिए उद्योग का ही वर्णन हुआ है। द्विवेदी जी का अनुमान है कि संभवतः कीर्ति पताका में प्रेम-आखेट आदि का वर्णन हुआ हो। उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता; यद्यपि पुस्तक में कुछ प्रारंभिक पन्ने जो

प्राप्त हैं इसी बात की ओर संकेत करते हैं। उनमें युद्ध की भूमिका नहीं शान्ति की भूमिका दिखाई पड़ती है।

मध्यकालीन साहित्य में वृतान्त-कथन की दूसरी शैली कहानी या आख्यायिका की है। कीर्तिलता को लेखक ने 'कहानी' कहा है।

पुरिस कहाणी हओ कहओ जसु पत्थावे पुन्न
सुक्ख सुभोअण सुभवअण देवहा जाइ सपुन्न

मैं उस पुरुष की कहानी कहता हूँ जिसके प्रस्ताव से पुण्य होता है, सुख, सुभोजन शुभ वचन और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

लेखक ने इसे कहानी ही नहीं कहा है बल्कि आख्यानों के अन्त में दिये महात्म्य की तरह इस कहानी के सुनने के फायदे भी बताए हैं।

आजकल कथा, कहानी, आख्यायिका का प्रयोग हम सदृशार्थक शब्दों की तरह करते हैं। किन्तु मध्यकाल में इनके अर्थ में अन्तर था। कथा शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अलंकृत काव्य-रूप के लिए भी होता था। वैसे कोई भी कहानी या सरस वृत्तान्त कथा है; किन्तु इस शब्द के अन्दर एक खास प्रकार के काव्य-रूप का भी अर्थ नियोजित मालूम होता है। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने सरस गद्य में लिखी हुई कहानी को आख्यायिका कहा है। भामह ने यह भी कहा कि आख्यायिका के दो प्रकार होते हैं, आख्यायिका और कथा। आख्यायिका गद्य में होती थी और इसे नायक स्वयं कहता था जब कि कथा को कोई भी कह सकता था। आख्यायिका उच्छ्वासों में विभक्त होती थी और उसमें वक्त्र और उपवक्त्र छन्द होते थे किन्तु कथा में इस तरह का कोई नियम न था।

अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः
अपित्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम्
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्
चिह्नमाख्यायिकारश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि

(काव्यादर्श १-२३-२८)

संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि से आख्यायिका और कथा गद्य में लिखी जानी चाहिए किन्तु अपभ्रंश या प्राकृत में इस तरह का कोई बन्धन न था। इसी से

संस्कृतेतर इन भाषाओं में कथायें प्रायः पद्य में लिखी ही मिलती हैं। इन कथाओं को चरित काव्य भी कहा गया है। अपभ्रंश भाषा के चरित काव्यों में गद्य का एक प्रकार से अभाव दिखाई पड़ता है। कुछ ग्रंथ अवश्य इसके अपवाद भी हैं। संभव है कि संस्कृत की पद्धति पर कुछ लेखकों ने पद्य-गद्य दोनों में अर्थात् चम्पू काव्य में कथाएँ लिखीं।

जो हो प्रचलित चरित काव्यों से कीर्तिलता इस अर्थ में थोड़ी भिन्न है और उसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। और कथा काव्य की तरह विद्यापति ने भी इस रचना के गद्य खण्डों को भी काफी सरस और अलंकृत बनाने का प्रयत्न किया है। कथा काव्यो में राज्यलाभ, कन्याहरण, गन्धर्व विवाहों की प्रधानता रहती है; किन्तु कीर्तिलता में केवल राज्यलाभ का ही वृत्तान्त दिया गया है। इस तरह कीर्तिलता में कथा-काव्य के कई लक्षण नहीं भी मिलते। इसी आधार पर द्विवेदी जी का कहना है कि विद्यापति ने जान बूझ कर कीर्तिलता को कथा न कहकर 'कहाणी' कहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर कीर्तिलता मध्यकालीन चरितकाव्यों या ऐतिहासिक किंवा अर्ध ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में गिनी जाती है दूसरी ओर इसमें 'कथा' का भी रूप न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। वस्तुतः कीर्तिलता में मध्यकालीन काव्यों की कई विशेषताएँ, नगर वर्णन, युद्ध वर्णन आदि के प्रसंग में दिखाई पड़ती हैं, कवि ने समयानुकूल इसमें वर्णन की दृष्टि से छन्दों का भी उचित प्रयोग किया है, साथ ही अपभ्रंश काव्यों की रुढ़ियाँ, कवि-समय आदि इसमें सहज रूप से प्राप्त होते हैं।

कीर्तिलता काव्य जैसा कहा गया कीर्तिसिंह के जीवन के एक हिस्से यानी युद्ध और राज्यलाभ के प्रसंगों को लेकर लिखा गया है। लक्ष्मण सम्वत् २५२ में (ईस्वी सन् १३७१ के आस पास) राजलोभी मलिक असलान से तिरहुत के राजा गणेश्वर का धोखे में बध कर दिया। राजा के बध से तिरहुत की हालत अत्यन्त खराब हो गई। चारों ओर अराजकता फैल गई। कवि ने इस अवस्था का बहुत ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया है।

ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ
दास गोसाञिनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खले सज्जन परभविअ कोइ नहिं होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कों पारक

अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ

राजा के बध के बाद विश्वासघाती असलान को परिताप हुआ, उसने गणेश्वर का राज्य उनके पुत्रों को दे देना चाहा किन्तु पिता के हत्यारे और अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को कीर्तिसिंह ने स्वीकार नहीं किया। वे अपने भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के सुल्तान इब्राहिम शाह के पास चले। बड़ी कठिनाई से, दोनों भाई जौनपुर पहुँचे। जौनपुर क्या था लक्ष्मी का विश्राम स्थान और आँखों के लिए अत्यन्त प्रिय था। कवि विद्यापति ने जौनपुर का बड़ा ही भव्य वर्णन किया है। बाग-बगीचे, मकान, रास्ते, रहटघाट, पुष्करिणी, संक्रम, सोपान, और हजारों श्वेत ध्वजों से मंडित स्वर्ण कलश वाले शिवालयों के विशद वर्णन से कवि ने नगर को साकार रूप दे दिया है। यही नहीं, उन्होंने नगर की बारीक-बारीक बातों का ब्योरेवार वर्णन उपस्थित किया है। गलियों में कपूर, कुंकुम, सौगन्धिक, चामर, कज्जल आदि बेचने वालों के साथ ही कास्य के व्यापारियों की वीथी जो बर्तन गढ़ने की 'झंकार' ध्वनि से गूंजती रहती थी जिसके साथ और भी मछहटा, पनहटा आदि बाजार के हिस्सों का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। नगर के चौड़े चौड़े रास्तों का जनसंमर्दन लगता था जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उमड़ पड़ा हो।

नगर का वर्णन विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। तत्पश्चात् विद्यापति ने मुसलमानों के रहन-सहन का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। उनकी आँख के सामने से कोई भी चीज छूट कर बच नहीं सकी। विद्यापति के मन में इनके प्रति सहज बिरक्ति है, इनके वर्णन में भी कहीं कहीं उनके मनका क्षोभ व्यक्त हो जाता है। खासतौर से उनकी गन्दी आदतें, शराब, कबाब, प्याज का उन्होंने थोड़ा घृणा-युक्त वर्णन किया है। विद्यापति के शब्दों में एक राजकर्मचारी तुर्क का स्वरूप देखिए :

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भाँग क गुण्डा
बिनु कारणहिं कोहाए वएन तातल तम कुण्डा
तुरक तोषारहिं चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दवलि दाढी थुक वाहइ

अंतिम पंक्तियों में तो तुर्क की उन्होंने दुर्दशा ही कर दी है जो घोड़े पर सवार होकर बाजार में घूम कर हेडा (कर या गोस्त) मांगता है, क्रुद्ध दृष्टि से देखकर दौड़ता है तो उसकी दाढ़ी से थूक बहने लगता है।

उस प्रकार के क्रूर शासनकाल में एक संस्कारी हिन्दू के मन की ग्लानि का स्वरूप देखिए :

धरि आनए वाभन बटुआ, मथा चढ़ावए गाइक चुडुवा
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चड़ावए चाह घोर
धोआ उरिधाने मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध
गोरि गोमर पुरिल मही, पएरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दुहिँ गोट्टओ गिलिए 'हल तुरुक देखि होए भान
अइसेओ जसु परतापे रह चिर जीवतु सुलतान

वाभन-बटुक को पकड़कर लाता है और उसके माथे पर गाय का शुरुवा रख देता है। चन्दन का तिलक चाट जाता है, माथे पर घोड़ा चढ़ा देना चाहता है।धोए नीवार-धान से मदिरा बनाता है और देवालय तोड़कर मस्जिद खड़ा करता है। कब्रों और कसाइयों से धरती पट गई है, पैर देने की भी जगह नहीं। तुर्कों को देखने से लगता था कि हिन्दुओं का पूरा का पूरा चबा जायेँगे—फिर भी जिस सुलतान के प्रताप में ऐसा होता था, वे चिरजीवी हों।

जिस सुल्तान के पास विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह सहायता माँगने गए थे, इसी सुल्तान के राज्य में यह सब कुछ होता था। लक्खनसेन ने भी तत्कालीन परिस्थिति का बड़ा मज़ेदार वर्णन किया है।

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज छाँड़ि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमाधी, षोट वइदि नहिं चीन्हे वियाधी
कुंजर बाँधे भूखन मरई, आदर सो षर सेइ चराई
चंदन काटि करील जे लावा, आँव काटि बबूर वोआवा
कोकिल हंस मँजारहि मारो, बहुत जतन कागहि प्रतिपाली
सारीव पंख उपारि पालै तमचुर जग संसार
लखनसेनि ताहने बसे काढ़ि जो खांहि उधार

(इब्राहिमशाह का समय, लखनसेनि, हरिचरित्र विराटपर्व अप्रकाशित)

गणेश्वर को मृत्यु हो जाने पर विद्यापति ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। लखनसेनि भी अन्त में अपना क्षोभ रोक नहीं पाता। कहता है कि सारिकाओं की पाँखें उखाड़ते हैं और घरों में मुर्गियाँ पालते हैं।

इब्राहिम शाह जिसके द्वार पर संसार भर के राजे प्रणिपात करते हैं और वर्षों दर्शन नहीं पाते, दोनों भाइयों पर कृपा करता है और असलान को पकड़ने के लिए सेना लेकर चलता है। किन्तु कारण वश सेना जो पूरब के लिए चली

थी पश्चिम की ओर बढ़ जाती है, उस समय दोनों राजकुमारों की दशा का बहुत ही हृदय द्रावक चित्रण कवि उपस्थित करता है।

सम्बर निरबल, किरिस तनु, अम्बर भेल पुराण
जवन सभावहिँ निक्करुण तौं न सुमरु सुरतान

विदेश में ऋण भी नहीं मिलता, मानधनी भीख भी कैसे माँग सकता है, राजा के घर जन्म हुआ, दीनता भरे वचन भी कैसे निकलें :

सेविअ सामि निसंक भए॰ दैव न पुरवए आस
अहह महत्तर किंकरउँ गएडर्भ गणिअ उपास

मित्र सहायता नहीं करता, भूख के कारण भृत्यों ने साथ छोड़ दिया, घोड़ों को घास नहीं मिलती, इस तरह अत्यन्त दुःख की अवस्था में वे दिन बिताते रहे।

किन्तु एक दिन अचानक आशा फलवती हुई, सेना को तिरहुति की ओर मुड़ने की आज्ञा हुई। कीर्तिसिंह के साथ ही विद्यापति कवि भी आनन्द से गा उठे :

फलिअउ साहस कम्मतरु सन्नगाह फरमान
पुहुवी तासु असक्क की जसु पसन्न सुरतान

कीर्तिसिंह के साथ सेना चली। उस समय संसार भर में कोलाहल मच गया, सेना के घोड़ों पर एक दृष्टि डालिए :

अनेक वाजि तेजि-ताजि साजि साजि आनिआ
परक्कमेंहि जासु नाम दीप-दीपे जानिआ
विसाल कन्ध, चारु वन्ध, सत्तिरूअ सोहणा
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा
सुजाति शुद्ध, कोहे कुद्ध, तोरि धाव कन्धरा
विशुद्ध दापे, मार टापे चूरि जा वसुन्धरा

इस तरह के दर्प से परे घोड़े उस सेना में चले, राजधानी के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हो गई। तलवारें बज उठी, कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती उधर ही रुण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते। अन्तरिक्ष में अप्सरायें श्रम-परिहार के लिए अंचल से व्यजन कर रही थीं, स्वर्ग से पारिजात सुमनों की वृष्टि हो रही थी। असलान पकड़ा गया; किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते देख जीवन-दान दे दिया। इस तरह तिरहुत्ति का राज्य पुनः सनाथ हुआ।

इस प्रकार विद्यापति के इस काव्य में यथार्थ एक नवीन सौन्दर्य लेकर उपस्थित हुआ है। उन्होंने एक ओर जहाँ कीर्तिसिंह के वीरता भरे व्यक्तित्व का

दर्प दर्शाया है वहीं उनकी दुरवस्था का भी चित्रण किया है। यही नहीं विद्यापति के इस कौशल के कारण कीर्तिसिंह निजंधरी कथाओं के नायकों से भिन्न कोटि के वास्तविक जीवन्त पुरुष मालूम होते हैं। विद्यापति के इस चरित्र-चित्रण की मूर्तिमत्ता की ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि कवि की लेखनी चित्रकार को उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामञ्जस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है बल्कि उस शिल्पी के टाँकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिगात्र में उभार देता है हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा पूरा अनुभव करते हैं।" इतना ही नहीं विद्यापति की लेखनी में स्वार-कार का वह जादू भी है कि इन मूर्तिवत् चित्रों को सजीव कर देता है, हम वेश्या के नुपूरों की छमक के साथ ही युद्धभूमि के पटह तूर्य की गगन भेदी आवाज़ भी सुन पाते हैं। काव्य कौशल की दृष्टि से विद्यापति का कोई प्रतिमान नहीं। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में एक सुरुचि दिखाई पड़ती है। वेश्याओं के काले काले केश में श्वेत पुष्प गुंथे हुए हैं कवि कहता है मानो मान्य लोगों के मुख चन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अन्धकार हँस रहा है।

तन्हि केश कुसुम वस, जनि मान्य जनक लज्ञावलंवित मुखचन्द्र चन्द्रिका करी अधओ गति देखि अन्धकार हस। नयनाञ्चल संचारे भ्रूलता भंग, जनि कज्जल कल्लोलिनी करी वीचिविवर्त बड़ी बड़ी शफरी तरंग।

वेश्याओं के वर्णन से विद्यापति के पाठकों को इतना तो स्पष्ट ही हो जाना चाहिए कि जो लोग अनवरत विद्यापति को भक्त कवि सिद्ध करने में अथक परिश्रम करते हैं वे कितने भ्रम में हैं, विद्यापति निःसन्देह शृंगार को ज्यादा तरज़ीह देते हैं। वैसे बुढ़ापे में सभी स्तुति-गान करते हैं, यह बात दूसरी है।

कीर्तिलता

प्रथम पल्लव

पितरुपनय मह्यन्नाकनद्याः मृणालं
नहि तनय मृणालः किन्त्वसौ सर्पराजः
इति रुदति गणेशे स्मेरवक्त्रे च शम्भौ
गिरिपतितनयायाः पातु कौतूहलं वः ॥१॥

अपि च

शशिभानु बृहद्भानुस्फुरन्त्रितय चक्षुषः ।
बन्दे शम्भोः पदाम्भोजमज्ञानतिमिरद्विपः ॥२॥
द्वाः सर्वार्थसमागमस्य रसनारङ्गस्थलीनर्तकी
तत्त्वालोकनकज्जलध्वजशिखा वैदग्धविश्रामभूः
श्रृङ्गारादिरसप्रसादलहरी स्वर्ल्लोककल्लोलिनी
कल्पान्तेस्थिरकीर्तिसंभ्रमसखी सा भरती पातु वः ॥३॥
गेहे गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे पुरे
देशे देशे रसज्ञाता दाता जगति दुर्लभः ॥४॥
श्रोतुर्ज्ञातु[1]र्वदान्यस्य कीर्तिसिंह महीपतेः
करोतु कवितुः काव्य भव्यं विद्यापतिः कविः ॥५॥

दोहा

तिहुअन खेत्तहिं काञि तसु कित्तिवल्लि पसरेइ ।
अक्खर खंभारंभजो मञ्चो वन्धि न देइ ॥
ते मोञे भलञो निरूढ़ि गए जइसओ तइसओ कब्ब
खल खेलाछ्रल दूसिहइ सुअण पसंसइ सब्ब
सुअण पसंसइ कब्ब मझु दुजन बोलइ मन्द ॥५॥
अवसओ विसहर विस वमइ अमिञ विमुक्कइ चन्द

---

1. क. दातुः । वदान्य के साथ दातुः की अपेक्षा ज्ञातुः ठीक लगता है ।
शा० में ज्ञातुः है

सज्जन चिन्तइ मनहिं मने मित्त कारिअ सब कोए
भेअ[1] कहन्ता मुज्झ जइ दुज्जन वैरि ण होए
बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा ॥१०॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ
का परबोधओ कवण मणावओ
किमि नीरस मने रस लए लावओ
जइ सुरसा होसइ मझु भासा ॥१५॥
जो बुज्झिह सो करिह पसंसा
महुअर बुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उँअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल
सक्कय वाणी बुहअन भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ ॥२०॥
देसिल वअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा
भृंगी पुच्छइ भिंग सुन की संसारहि सार
मानिनि जीवन मानसओ वीर पुरुस अवतार
वीर पुरुस कइ जम्मिअइ नाह न जम्पइ नाम ॥२५॥
जइ उँच्छाहे फुर कहसि हओ आकण्डन काम

रड्डा

कित्तिलद्ध[2] सूर सङ्गाम
धम्म पराअण हियय विपयकम्म नहु दीन जम्पइ
सहज भाव सानन्द सुअण भुञ्जइ जासु सम्पइ
रहसें दव्व दए विस्सरइ सत्तो सरुअ सरीर ॥३०॥
एत्तो लक्खण लक्खिअइ पुरुष पसंसओ वीर

जदौ

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुञ्जिओ धूमो

---

१. क० भेदक हत्ता ।　　२. शा० क० कित्तिलुद्ध

सो पुरिसो जसु मानो सो पुरिसो जस्स अज्जने सत्ति
इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूना पसू होइ ॥३९॥

दोहा

सुपुरिस कहनी हौं कहउँ[१] जसु पत्थावे पुन्न
सुक्ख सुभोजन सुभवअन देवहा जाइ सुपुन्न

छपद

पुरुष हुअउँ वलिराए जासु कर कन्न पसारिअ
पुरिस हुअउँ रघुतनअ जेनै बले रावण मारिअ
पुरिस भगीरथ हुअउँ जेन्ने णिअ कुल उद्धरिउँ ॥४०॥
परसुराम अरु पुरिस जेन्ने रवत्तिअ खअ [१]करिअउँ
अरु पुरिस पसंसओ राय गुरु कित्तिसिंह गअणेस सुअ
जे सत्तु समर सम्मदि करु वप्प वैर उद्धरिअ धुअ

दोहा

राय चरित्त रसाल एहु [ ]णाह न राखेउ गोइ
कवन वंस को राय सो कित्तिसिंह को होइ ॥४१॥

रड्डा

तक्कस वेद पढ़ तिन्नि
दाने दलिअ[२] दारिद्द परम ब्रह्म परमत्थे बुज्झइ
वित्ते बटोरइ[३] कित्ति सत्ते सत्तु संगाम जुज्झइ
ओइनी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ ण सेव
दुहु एकत्थ न पाविअइ भुअवै अरु भूदेव[४] ॥४०॥

जेन्हे खण्डिअ पुव्व वलि कन्न
जेन्हे सरण परिहरिअ जेन्हे अत्थिजन विमन न किज्जिअ
जेइ अतत्थ न भणिअ जेइ न पाउं उमग[ ] दिज्जिअ
ता कुल केरा बड्डिपन कहबा कवन उँपाए
जज्जमिअ उप्पन्नमति कामेसर सन राए ॥४४॥

---

१. शा० क० पुरुष कहानी हओ। २. ख. दरै।
३. ख. विथारै। ४. ख पायै एक भुअवै भुअदेव।

अथ छपद

तसु नन्दन भोगीसराअ वर भोग पुरन्दर
हूअ हुआसन तेजि, कन्ति कुसुमाउँह सुन्दर
जाचक सिद्धि केदार दान पञ्चम बलि जानल
पिय सख भणि पिअरोज साह सुरतान समानल
पत्ताप दान सम्मान गुणे जे सब करिअउँ अप्प बस ॥६०॥
वित्थरिअ कित्ति महिमण्डलहिं कुन्द कुसुम संकास जस

दोहा

तासु तनअ नअ विनअ गुन गरुअराअ गएनेस
जें पट्ठाइअ दसओ दिसि कित्ति कुसुम संदेस

छपद

दाने गरुअ गएनेस जेन्ने[1] जाचक जन रञ्जिअ
माने गरुअ गएनेस जेन्हे रिउं बड्डिम भंजिअ ॥६५॥
सत्ते गरुअ गएनेस जेन्हे तुलिअओ आखण्डल
कित्ति गरुअ गएनेस जेन्हे धवलिअ[2] महिमण्डल
लावन्ने गरुअ गएनेस पुनु देक्खि सभासइ पञ्चसर
भोगीस तनअ सुपसिद्ध जग गरुअराए गएनेस वर

अथ गद्य

तान्हि करो पुत्र युवराजन्हि मांझ[3] पवित्र ॥७०॥
अगणेयगुणग्राम, प्रतिज्ञापदपूरणैकपरसुराम
मर्यादामङ्गलावास, कविताकालिदास, प्रबलरिपुबल
सुभटसकीर्णसमरसाहसदुर्निवार, धनुर्विद्यावैदग्ध
धनञ्जयावतार, समाचरितचन्दचूड[4]चरणसेव, समस्त-
प्रकियाविराजमान महाराजाधिराज श्रीमद्वीरसिंहदेव ॥७५॥

दोहा

तासु कनिट्ठ गरिट्ठ गुण कित्तिसिंह भूपाल
मेइनि साहउ, चिर जियउ करो धम्म परिपाल

---

१. क० जेन । २. शा० क० धरिअउँ ।
३. ख० युवराजन्ह मह । ४. ख समासादित्य ।

गद्य

जेन्हे राजे अतुलतर विक्रम विक्रमादित्य करेओ तुलनाजे
साहस साधि पातिसाह आराधि दुष्ट करेओ दप्प—
चूरेओ, पितृवैर उंद्धरि साहि करो मनोरथ पूरेओ ॥८०॥
प्रवल शत्रुवलसंघट्ट सम्मिलन सम्मर्दसंजात पदाघात—
तरलतरतुरङ्गखुरक्षुण्णवसुन्धराधूलि संभार घनान्धकार-
श्यामसमरनिशाभिसारिकाप्राय, जयलक्ष्मीकर ग्रहण
करेओ। बूडन्त राज उद्धरि धरेओ।
प्रभुशक्ति दानशक्ति ज्ञानशक्ति तीनहु शक्तिक परीक्षा ॥८१॥
जानलि। रूसलि विभूति पलटाए आनलि। तन्हि करो
अहंकार सारेओ तरलतरवारिधारातरङ्गसंग्रामसमुद्र-
फेणप्राययश उंद्धरि दिगन्त विथरेओ।

ईशमस्तकविलासपेशला
भूतिभाररमणीयभूषणा।
कीर्तिसिंह नृप कीर्तिकामिनी
यामिनीश्वरकला जिगीषतु ॥

इति श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां प्रथम पल्लवः।

द्वितीय पल्लव

अथ भृंङ्गी पुनः पृच्छति

किमि उँप्पनउँ बैरिपण किमि उद्धरिअउँ तेन

पुरुष कहानी पिय कहहु सामिअ सुनओ सुहेन

छपद

लक्खणसेन नरेश लिहिअ जवे पख्ख पंच वे
तं महुमासहिं पढम पख्ख पञ्चमी कहिअजे[1] ॥५॥
रज्जलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम वले हारल
पास वइसि विसवासि राए गएनेसर मारल
मारन्त राए रणरोल परु मेअिनि हाहा सद्द हुअ
सुरराए नएर नाएर रमनि वाम नयन पप्फुरिअ धुअ
ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ ॥१०॥
दास गोसाञुनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहिं होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कॉं पारक
अक्खररस वुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ ॥१५॥

रड्डा

राए वधिअउं सन्त हुअ रोस
निज मनहिं मने अस तुरुक्क असलान गुणणइ[2]
मन्द करिअ हओ कम्म धम्म सुमरि निज सीस धुणइ[3]
एहि दिस उद्धार के पुत्र न देखओ आन
रज्ज समप्पओं पुनु करओ कित्तिसिंह सम्मान ॥२०॥

दोहा

सिंह परक्कम मानधन वैरुद्धार सुसज्ज
कित्तिसिंह नहु अंगवइ सत्तु समप्पिअ रज्ज

---

१. ख. कहिज्जै ।
२. ख. गुणै. । ३. ख. धुणै ।

रड्डा

माए जम्पइ अवरु गुरुलोए
मन्ति मित्त सिक्खवइ कबहुँ एहु नहिं कम्म करिअइ
कोहे रज्ज परिहरिअ बप्प बैर निज चित्त धरिअइ ॥२५॥
लेहेन राए गएनेस गउँ सुरपुर इन्द समाज
तुम्हे सत्तुहिं मित्त कए भुञहु तिरहुत राज

गद्य

तेतुली बेला मातृ मित्र महाजन्हि करो बोलन्ते
हृदयगिरि कन्दरा निद्राण पितृबैरिकेशरी जागु
महाराजाधिराज श्रीमत्कीर्त्तिसिंह देव कोपि कोपि बोलए लागु ॥३०॥
अरे अरे लोगहु विथा विस्मृतस्वामि शोकहु कुटिल—
राजनीति चतुरहु मोर वअन आकण्णे करहु।

दोहा

माता भणइ ममत्तयइ[1] मन्ती रज्जइ नीति
मझु पिआरी एक्क पइ वीर पुरिस का रीति
मानविहूना भोअना सत्तुक देअल[2] राज ॥३५॥
सरन पइट्ठे जीअना तीनू काअर काज
जो अपमाने दुक्ख न मानइ
दानखग्ग को मम्म न जानइ
परउँअआरे धम्म न जोअइ
सो धन्नो निच्चिन्ते सोअइ ॥४०॥
पर पुर मारि सञो गहुओ बोलए न जाए कछु धाइ
मेरहु[3] जेट्ठ गरिट्ठ अछ मन्ति विअक्खन भाइ

छपद

बप्प वैर उद्धरञो[4] न भुण परिवण्णा चुक्कञो
संगर साहस करञो ॥ भुण सरणागत मुक्कञो

---

१. शा० मनत्तयइ। २. क० सत्तुक अेल राज। ख. शत्रु के दीन्ह राज।
३. ख. मोरहु। ४. ख प्रति में 'इअ' लगाकर उद्धरिअ आदि रूप बनाए गये हैं। 'ञो' का प्रयोग करके उत्तम पुरुष के रूप नहीं हैं।

दाने दलओो दारिद्द न जुए नहि अक्खर भासओो ॥४६॥
याने पाट धरु करओो न जुए निअ सत्ति पआसओो
अभिमान जओो रक्खओो जीव सओो नीच समाज न करओो रति
ते रहउँ कि जाउँ कि रज्ज मम वीरसिंह भए अपन मति

रड्डा

वेवि सम्मत मिलिअ तवे एक्क
वेवि सहोदर संग वेवि पुरिस सब्ब गुणए विअक्खन ॥५०॥
चलेउ बलभद्द कण्ण[1] गं उआँ वनिअउँ राम लक्खन
राजह नन्दन पाओे चलु अइस विधाता भोर
ता पेक्खन्ते[2] कमन काँ नअण न लगाइ लोर
लोअ छड्डिअ अवरु परिवार
रज्ज भोग परिहरिअ वर तुरंग परिजन विमुक्किअ ॥५५॥
जननि पाओे पन्नविअ जन्मभूमि को मोह छोड्डिअ
धनि छोड्डिअ नवयोव्वना धन छोड्डिओो बहुत्त
पातिसाह उद्देसे चलु गअन राय को पुत्त

वाली छन्द (मणवहला)

पाओें चलु दुअओो कुमर
हरि हरि सवे सुमर ॥६०॥
वहुल छांडल पाटि पाँतरे
वसन[3] पाओे ल आँतरे आँतरे
जहाँ जाइअ जेहे गाओो
भोगाइ राजा क वड्डि[4] नाओो
काहु कापल काहु घोल ॥६१॥
काहु सम्बल देल थोल
काहु पाती भेलि पैठि

---

१. क० शा० गं वलभद्दह । २. ख० देक्खन्ते ।
३. क० वसने । ख० वसल ।
४. शा० राजा कवाड्डि नाओो । कौड़ी भी नहीं लगती । शास्त्री का यह अर्थ ठीक नहीं है ।

काहु सेवक लागु भैठि
काहु देल ऋण उधार
काहु करिअउ नदी क पार ॥७०॥
काहुओ वहल भार वोझ
काहु वाट कहल सोझ
काहु आतिथ्य विनय करु
कतेहु दिने वाट सन्तरु

दोहा

अवसओ उद्दम लछि वस अवसओ साहस सिद्धि ॥७४॥
पुरुस विअख्खण जञ्चलइ तं तं मिलइ समिद्धि
तं खने पेख्खिअ नअर सो जोनापुर तसु नाम
लोअन केरा वल्लहा लच्छी के विसराम

गीतिका छन्द

पेख्खिअउ पट्टन चारु मेखल जओन[1] नीर परवारिआ
पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह ऊपर ढारिआ ॥८०॥
पल्लविअ कुसुमिअ फलिअ उपवन चूअ चम्पक सोहिआ
मअरन्द पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ
वकवार साकम बांध पोरवरि नीक[2] नीक निकेतना
अति वहुत भांति विवट्टवट्टहिं भुलेओ वड्डेओ चेतना
सोपान तोरण यंत्र जोरण जाल गाओष खंडिआ ॥८४॥
धअ धवल हर घर सहस पेख्खिअ कनक कलशहिं मंडिआ
थल कमल पत्त पमान नेत्तहिं मत्तकुंजर गामिनी
चौहट्टवट्ट पलट्टि हेरहिं साछ साछहिं कामिनी
कप्पूर कुंकुम गन्ध चामर नअन कज्जल अंवरा
वेवहार मुल्लहिं वणिक विक्कण कीनि आनहिं वब्वरा ॥९०॥
सम्मान दान विवाह उच्छव गीअ नाटक कव्वहीं
आतिथ्य विनय विवेक कौतुक समय पेल्लिअ सव्वहीं

---

1. ख० जौन । २. ख० वकवार पोरवरि बाँध साकम चीरू पारि ।

पञ्चटइ खेल्लइ हसइ हेरइ साथ साथहि जाइआ
मातंग तुंग तुरंग ठट्टहिं उवटि वट्ट म पाइआ

गद्य

अवरु पुनु । ताहि नगरन्हि करो परिठव ठवन्ते शतसंख्य ॥६५॥
हाट बाट भमन्ते, शाखानगर श्रृंगाटक आक्रीडन्ते, गोपुर वकहटी,[1] वलभी, वीथी, अटारी, सोवारी[2] रहट घाट कौसीस प्राकार पुरविन्यास कथा कहओ का, जनि दोसरी अमरावती क अवतार भा ।
अवि अवि अ । हाट करेओ प्रथम प्रवेश, अष्टधातु ॥१००॥
घटना टंकार, कसेर क पसार, काँसे क क्रयकार ।[3]
प्रचुर पौरजन पद संभार संभिन्न,[4] धनहटा, सोनहटा पनहटा, पक्वानहटा, मछहटा[5] करेओ सुख रव कथा कहन्ते होइअ झूट, जनि गंभीर गुग्गुरावत कल्लोल कोलाहल कान भरन्ते मर्यादा छाँड़ि महार्णव ऊठ ॥१०५॥
मध्यान्हे करी बेला संमद्द साज, सकल पृथ्वीचक्र करेओ वस्तु विकाइबा काज । मानुस क मीसि पीसि वर आँगे आँग, ऊगर आनक तिलक आनकाँ लाग । यात्राहुतइ परस्त्रीक वलया भाँग । ब्राह्मण क यज्ञोपवीत चाण्डाल के आँग लूर, वेश्यान्हि करो पयोधर ॥११०॥
जती के हृदय चूर । घने सञ्चर घोल हाथि, बहुत वापुर चूरि जाथि । आवर्त विवर्त रोलहों, नअर नहि नर समुद्रओ ।

छपद

बहुले भाँति वणिजार हाट हिंडइए जवे आवथि
खने एक्क सबे विक्कणथि सबे किछु किनइते पावथि
सब दिसँ पसरु पसार रूप जोव्वण गुणे आगरि ॥११५॥

---

१. ख० बहरी । २. ख० सोवरी । शा० ओवारी ।
३. क० शा०, कँसेरी पसरौं कास्य क क्रार । ४. क० सम्हार सम्हीन्न ।
५. मछहटा के बाद ख प्रतिमें दमहटा, कपरहटा और सवुणहटा भी मिलता है ।

वानिनि वीथी माँझे वइस सए सहसहि नागरि
सम्भाषण किछु वेआज कइ तासओ कहिनी सब्ब कह
विक्कणइ वेसाहइ अप्प सुखे डिठि कुतूहल लाभ रह

दोहा

सब्बउँ केरा रिज[१] नयन तरुणी हेरहिं वङ्क
चोरी पेम पिआरिओ अपने दोस ससङ्क ॥१२०॥

रँड्डा

वहुल बंभण वहुल काअथ
राजपुत्त कुल वहुल वहुल जाति मिलि वइस चप्परि
सबे सुअन सबे सधन णअर राअ सवे नअर उप्परि
जं सवे मंदिर देहली धनि पेक्खिअ सानन्द
तसु केरा मुख मण्डलहिं घरे घरे उग्गिह चन्द ॥१२१॥

गद्य

एक हाट के ओर ओका हाट के कोर[२]। राजपथ क सन्निधान सञ्चरन्ते अनेक देषिअ वेश्यान्हि करो निवास जन्हि के निर्माणे विश्वकर्महु भेल वड प्रयास। अवरु वैचित्री कहओ का, जन्हि के केस धूप धूम करो रेखा ध्रुवहु उंप्पर जा। काहु काहु अइसनो सङ्क[३], ओकरा काजर ॥१३०॥ चाँद कलंक। लज्ज कित्तिम, कपट तारुन्न। धन निमित्ते धरु पेम; लोभे विनअ सौभागे कामन। विनु स्वाम्मी सिन्दुर परा परिचय अपामन।

दोहा

जं गुणमन्ता अलहना गौरव लहइ भुवंग
वेसा मंदिर धुअ वसइ धुत्तह रूप अनंग ॥१३२॥

---

१. ख. सब्बहु के वारिजु। शा० सब्वंउ के वारिज।
२. क० शा०. एक हाट करेओ ओल ओकी हाट करेओ कोल।
३. क० शा०. सङ्गत करे।

गद्य

तान्हि वेश्यान्हि करो सुख सार मण्डन्ते अलक तिलका पत्रावली खंडन्ते दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि उभारि केशपास बन्धन्ते। सखि जन प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते। सआनी, लानुमी, पातरी, पतोहरी, तरुणी तरट्टी, वन्ही, विअक्खणी, परिहास पेषणी सुन्दरी सार्थ जवे देखिअ, तवे मन करे ई तेसरा लागि तीनू उपेक्खिअ[1] ॥१४०॥ तान्हि केस कुसुम वस, जशु मान्यजनक लज्जावलम्बित मुखचन्द्रचन्द्रिका करी अधओगति देखि अन्धकार हँस। नयनाञ्चल सञ्चारे भ्रूलता भंग, जनु कज्जल कल्लोलिनी करी वीचि विवर्त बड़ी बड़ी शफरी तरङ्ग। अति सूक्ष्म सिन्दूर रेखा निन्दन्ते पाप, जनु पञ्चशर करो पहिल ॥१४९॥ प्रताप। दोखे हीनि, माझ खीनि, रसिकें आनलि जूंआ जीति, पयोधर के भरे भागए चाह[2], नेत्र करे त्रितिय भाग भुअण साह[3]। ससँर वाज, राअन्हि छाज[4]। काहु होअ अइसनो आस, कइसे लागत आँचर वतास। तान्हि करी कुटिल कटाक्षछटा कन्दर्पशरश्रेणीजओ नागरन्हि ॥१५०॥ का मन गाड, गो बोलि गमारन्हि छाड।

दोहा

सव्वउँ नारि विअक्खनी सव्वउँ सुस्थित लोक
सिरि इमराहिम साह गुणे नहि चिन्ता नहि शोक
तब तसु हेरि सुहित होअ लोअण
सबतहुँ मिलए सुठाम सुभोअण ॥१५१॥
खन एक मन दए सुनओ विअक्खण
किछु बोलओ तुरुकाणओ लक्खण

---

१. ख. चारि पुरुषार्थ तिसरा लगि उपेक्खिअहि।
२. क० शा० भागए चह।
३. क० शा० नेत्र क रीति तीय भागे तीनु भुवन साह।
४. ख. सुशरवाज रायह्न छाज।

भुजंगप्रयात छन्द

ततो वे कुमारो पइट्ठे वजारी
जहिं लष्ख घोरा मअंगा हजारी
कहीं कोटि गन्दा कहीं वाँदि वन्दा ॥१६०॥
कहीं दूर निक्कारिअहि[1] हिन्दु गन्दा
कहीं तथ्थ कूजा तवेल्ला पसारा
कहीं तीर कम्माण दोक्काण दारा
सराफे सराफे भरे वेवि वाजू
तौलन्ति हेरा, लसूला पेआजू ॥१६५॥
षरीदे षरीदे वहूता गुलामो
तुरुक्को तुरुक्के अनेको सलामो
वसाहन्ति षोसा पइज्जल[2] मोजा
भमे मीर वल्लीअ सइल्लार षोजा
अड्डे वे भणन्ता सरावा पिअन्ता ॥१७०॥
कलीमा कहन्ता कलामे जिअन्ता[3]
कसीदा कढ़न्ता मसीदा भरन्ता
कितेवा पढ़न्ता तुरुक्का अनन्ता

छपद

अति गह सुमर षोदाए षाए ले भांग क गुण्डा
विनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुण्डा ॥१७५॥
तुरुक तोषारहिं चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी डीठि निहार दवलि दाढ़ी थुक वाहइ
सब्बस्स सराब षराव कइ ततत कवाबा (खा) दरम[4]
अविवेक क रीती कहओ का पाछा पयदा लेले भम

(जमण[5] खाइ ले भांग माग रिसियाइ खाए है ॥१८०॥
दौरि चीरि जिउ धरिअ समिण सालण अयौ भयौ ।

---

1. क० शा० कहीं दूर रिक्काविए ।
२. क० शा० मइज्जल । ३. ख० कलामे जिअन्ता कलीमा पढ़न्ता
४. ख० तत कइत खा वादिरम । ५. यह छपद शास्त्री की प्रतिमें नहीं है ।

पहिल नेवाला खाइ जाइ मुँह भीतर जवहीं
खण यक चुप भै रहइ गारि गाढ़ दे तवहीं
ताकी रहै तसु तीर लै बैठाव मुकदम वाँहि धै
जो आनिअ आन कपूर सम तवहु पिआज पिआज पै ।) ॥१८९॥
गीत गरुवि जापरी मत्त भए मतरुफ गावइ
परष नाच तुरुकिनी आन किछु काहु न भावइ
सअद सेरणी विलइ॰ सव्व को जूठ सव्वे खा
दूआ दे दरवेस पाव नहि गारि पारि जा
मषदूम लवावे[1] दोम जओ हाथ दसस दस द्वारओ ॥१९०॥
षुन्दकारी हुकुम कइओ का अपनेओ जोए पराइ हो

वाली छन्द

हिन्दू तुरके मिलल वास
एकक धम्मे अओका उपहास
कतहु वाँग कतहु वेद
कतहु विशमिल[2] कतहु छेद ॥१९९॥
कतहु ओझा कतहु षोजा
कतहु नखत[3] कतहु रोजा
कतहु तम्वारु कतहु कूजा
कतहु नीमाज कतहु पूजा
कतहु तुरुक वर कर ॥२००॥
वाँट जाइते वेगार धर
धरि आनए वाभन वटुआ
मथां चढ़ावए गाइक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर
उपर चढ़ावए चाह घोर ॥२०१॥
धोआ उरिधाने[4] मदिरा साँध
देउरि भाँग मसीद वाँध

---

१. क० मरावइ । २. क० मिसमिल । ३. क० नकत ।
४. ख० धोआवरी धाने ।

गोर गोमर पुरिल मही
पैरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दू बोलि दुरहि निकार ॥२१०॥
छोटे ओ तुरुका भमकी मार

दोहा

हिन्दू गोट्टओ गिलिअ हल[1] तुरुक देखि होअ भान
अइसओ जसु परतापे रह चिर जीअउ सुलतान
हट्टहि हट्ट भमन्तो दुअओ राजकुमार
दिट्ठि कुतूहल वज्झ रस तो पइट्ठ दरबार ॥२१५॥

पद्मावती छन्द

जोअइ सम्मदे वहु विहरहे अम्बर मण्डल पूरीआ
आवन्त तुरुक्का खाण मुल्लुका पअ भरे पाथर चूरीआ
दुरुहुन्ते आआ वड वड राआ दवल दोआरहि चारीआ
चाहन्ते छाहर[2] आवहि वाहर गालिम गणए न पारीआ।
सब सइअदगारे विथरि थारे पुहविए पाला आवन्ता ॥२२०॥
दरबार पइट्ठे दिवस भइट्ठे[3] वरिसहु भेट न पावन्ता
उत्तम परिवारा षाण उमारा महल मजेदे जानन्ता
सुरतान सलामे नहिअ इलामे[4] आपें रहि रहि आवन्ता
साअर गिरि अन्तर दीप दिगन्तर जासु निमित्ते जाइआ
सव्वओ बदुराना राउत राना तथ्थि दो आरहिंपाइआ ॥२२५॥
इअ रहहि गणन्ता विरुद भणन्ता भट्टा ठट्टा पेष्खीआ
आवन्ता जन्ता कज्ज करन्ता मानव कम्मने लेष्खीआ
तेलंगा वंगा चोल कलिंगा राआ पुत्ते मण्डीआ
निअ भासा जम्पइ साहस कम्पइ जइ सूरा जइ पण्डीआ
राउत्ता पुत्ता चलए बहुत्ता अँतरे पटरे सोहन्ता ॥२३०॥
संगाम सुहव्वा जनि गन्धव्वा रूअे पर मन मोहन्ता

---

१. ख० ओ हिन्दु बोलि गिरि चहै। २. ख० चाहर।
३. ख. जे जेहि मलम जाणन्ता। ४. ख. लहिअै मानै।

छप्पद

ओहु षास दरबार सएल महि मण्डल उप्परि
उथ्थि अपन वेवहार राङ्क ले राअहु उप्परि
उथ्थि सत्तु उथि मित्त उत्थि सिरनवइ सब्ब कइ
उथ्थि साति परसाद उथ्थि भए जाइ भब्व कइ ॥२३९॥
निअ भाग अभाग विभाग वल, ओ ठामहि जानिअ सब्ब गए
एहु पातिसाह सबलोक उप्परि तसु उप्पर करतार पए

गद्य

अहो अहो आश्चर्य। ताहि दोषालन्हि करो दरबाल[1] ओ
ओ ओन दरबार मेओगे दर सदर दारिगह वारिगह निमाजगह
षोआरगह, षोरमगह, करेओ चित्त चमत्कार देषन्ते सव॥२४०॥
बोल भल जनि अद्यपर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य छल।
तान्हि प्रसादन्हि करो वमञमणि घटित काञ्चन कलश छाज[2]।
जन्हि करो माथे सूर्यरथ वहल पर्यटन्त सात घोरा करो
अट्ठाइसओ टाप बाज। प्रमदवन,[3] पुष्पवाटिका, कृत्रिमनदी
क्रीडाशैल, धारागृह, यन्त्रव्यजन, शृंगार संकेत, माधवी मण्डप, ॥२४५॥
विश्राम चौरा, चित्रशाली खट्वा, हिडोल कुसुम शय्या, प्रदीप-
माणिक्य चन्द्रकान्त शिला, चतुस्सम पल्लव करो परमार्थ
पुच्छहि सियान, अभ्यन्तर करी वार्ता के जान[4]।
एम पेष्खिअ दूर दाषोल, महुत्त विस्समिअ, सिट्ठपदिक[5]
परिअण पमानिअ, गुणे अनुरञ्जिअ लोअ सव्व, महल ॥२५०॥
को मम्म जानिअ।

---

१. ख. दाररखोलहि करो दरवार परम अदारण खासदर दारिगाह।
२. ख. ताहि प्रासाद करो मनि घटित कंगूरा। ३. ख. प्रमोदवन
४. ख. पल्लव करो पुरुषार्थ हँसि पुछि आया, अभ्यन्तर करी वार्ता कवण जाया। ५. क० शा० सिट्ठपदिक परिठए अपमानिअ।

दोहा

सगुण सत्राणे पुच्छिअउँ तं पल्लविअउँ आस
तोउ असंभहिं मज्जु पुर विप्पधरहिं करु वास

सीदत्प्रत्यर्थिकान्तामुखमलिनरुचां वीतयैः पङ्कजानां
स्त्यागैर्वंद्धाअलीनांतरणिपरिचितैर्भक्तिसम्पादितानां
अन्यद्वाराकृतार्थद्विजनिकर कर स्थूल भिक्षा प्रदानैः
कुर्वन् सन्ध्यामसन्ध्यां चिरमवतु मही कीर्तिसिंहो नरेन्द्रः
इति श्री मट्ठक्कुर श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां द्वितीयः पल्लवः ।

तृतीय पल्लव

अथ भृङ्गी पुनः पृच्छति

कारण समाइअ अभिसरस तुज्झ कहन्ते कन्त
कहहु विअक्खण पुनु कहहु किमि अग्गिम वित्तन्त

रड्डा।

रअणि विरमिअ हुअउँ पच्चूस[1]
तरणि तिमिर संहरिअ हँसिअ अरविन्द[2] कानन ॥९॥
निन्दे नअन परिहरिअ उट्ठि राए पक्खारु आनन
गइ उजीर अराहि[3]अउँ जंपिअ सकलओ कज्ज
जइ पहु बडओ पसन्न होअ तओ सिद्धाअत रज्ज[4]
तब्वे मन्तिन्ह किअउ पत्थाव
पातिसाह गोचरिअ सुभ महुत्त सुख राजे भेट्टिअ ॥१०॥
हअ अम्बर वर वहिअ हिअ दुक्ख वैराग मेट्टिअ
खोदालम्म सुपसन्न हुअ पुच्छु कुसलमय वत्त
पुनु पुनु पुनु पुन्नाम कए कित्तिसिंह कइ वुत्त
अज्ज उच्छव अज्ज कल्लान
अज्ज सुदिन सुमहुत्त अज्ज माजे मझु पुत्त जाइअ ॥११॥
अज्ज पुन्न पुरिसत्थ पातिसाह पापोस पाइअ
अकुशल वेविहि कज्ज पइ एक्क तुम्ह परताप[5]
अरु लोअन्तर सग्ग गउ गएणराए मझु बाप
—फरमान भेल कओण साहि
तिरहुति लेलि; जन्हि साहिडरे कहिनी कहए आन ॥१२॥
× भेहा तोई ताई असलान

---

१. क० थक्कू सत्त० पच्चस। २. ख० हँसेउ इन्द।
३. ख० गै उजीर पाराधि कै।
४. ख० यै रयउ पभु पसन्न वड तइ वैसिटाइत राज
५. क अकुशल वेविहि एक्क पइ अवर तुम्ह परताप।

पढम पेल्लिअ तुज्झ फरमान
गएनराए तौं वधिअ तौंन सेर विहार साहिअ[1]
चलइते चामर परइ धरिअ छत्त तिरहुति उगाहिअ
तब्वउँ तोके रोस नहिं रज्ज करओो असलान ॥३६॥
अबे करिअउ अहिमान कर अज्ज जलंजिल दान
वे भूपाला मेइनी वेग्गडा[2] एक्का नारि
सहहि न पारइ वेवि भर अवस करावए मारि[3]

रड्डा

भुवन जगइ तुम्ह परताप
तुम्हे खग्गे रिउँ दलिअ तुम्हे सेवइ सवे राए आवइ ॥३०॥
तुम्हे दाने महि भरिअउँ तुम्हे किंत्ति सबे लोग गावइ
तुम्हे ण होसउँ असइना जइ सुनिअउँ रिउँ नाम
इअर वपुरा की करओ वीरत्तण निज ठाम
एम कोप्पिअ सुनिअ सुरुतान
रोमंचिअ भुअ जुअल भौंहं जुअल भरि गेट्ठि परिअउँ ॥३८॥
अहर बिम्ब पप्फुरिअ नयने कोकनद कान्ति धरिअउँ
खाण उमारा सब्ब के तं पणे भौ फरमान
अपनेहु साठे सम्पलहु तिरहुत्तिहिं पयान

छपद

तपत हुवउँ सुरतान रोल ऊँछल दरबारहिं
जन परिजन संचरिअ धरणि धसमस पए भारहिं ॥४०॥
तात भुवन भए गेल सब्व मन सवतहु सङ्का
बड़ा दूर बड़ हचड़ आज जनि उजडल लङ्का
देवान अबदगल गद्दवर[4] कुरुवक वइसल अदप कइ[5]

---

१. क० चापिअ २. ख० वेअडा
३. १६-२८ की पंक्तियों में दो रड्डा छन्द किसी प्रकार मिल गए हैं, सम्भव है अन्तिम दोहों में से एक, उपरी रड्डे का भाग हो।
४. ख. देवाण अरदगार भे। पाठ भ्रष्ट है। ५. ख. मइल के।

जनि अवहि सवहिं दहु धाए कहु पकलि दओ असलाण गइ[1]

रड्डा

तेन्हि सोअर वेवि सानन्द ॥४९॥
कित्तिसिंह वर नृपति लए पसाओ वाहरओ आइअ
एथ्थन्तर वत्त विचित्त[2] कहु सुरतानहु पाइअ
पुब्वे सेना सज्जिअउ पच्छिम हुअउँ पयान
आए करइते आण[3] भउँ विहि चरित्त को जान

दोहा

तं खणे चिन्तइ राअ सो सब्वे हुअउँ महु लज्ज ॥५०॥
पुनु वि परिस्सम सीझिहइ कालहि चुक्किह कज्ज[4]

गद्य

तइसना प्रस्ताव चिन्ताभराणत[5] राअन्हि करो
मुखारविन्द देखेअ महायुवराज श्रीमद्वीर सिंह देव
मंत्री भणिअ, अइसनेओ उँपताप गुणिओ ण गुणिअ

रड्डा

दुक्खे सिज्झइ राअ घर कज्ज ॥५१॥
तं उब्वेअ न करिषु सुहिअ पुच्छि संसअ हरिज्जइ
फल दैवइ आअत पुरिस कम्म साहस करिज्जइ
जइ साहसहु न सिद्धि हो झंप करिब्वउं काह
होणा होसइ एक्क पइ वीर पुरिस उच्छाह।
ओहु राओ विअक्खण तुम्हे गुणवन्त ॥६०॥
ओ सधम्म तोहें शुद्ध ओहु सदय तुम्ह रज्ज खंडिअ[6]

---

१. ख. जनि अवहि तवहिं पै धाइ कै पकरि अच्छल वअसल्ला गै।
२. क० शा० पुरि वत्त रत्त। ३. क० अम करइते अएड।
४. ख. प्रति में यह दोहा नहीं है। ५. शा० भाराणत, ख. भरोभणदत्त
६. ख. रज्ज पंडिअ।

ओ जिगीसु तोहें सूर ओहे राए तोहे रज्ज पंडिअ[1]
पुहवी पति सुल्तान ओ तुम्हे राय कुमार
एक्क चित्त जइ सेविअइ धुव होसइ परकार

दोहा

इथ्थेन्तर पुनु रोल पडु. सेयण स ंख को जान ।।६५।।
नलिन पत्त महि चलइ ज़ओ सुल्तानी तक्तान[2]

निशिपाल (खंजा) छन्द

चलिअ तक्तान[3] सुल्तान इबराहिम ओ
धरणि भण कुरुम सुनु धरण बल णाहि मो[4]
गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कंपिआ
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ ।।७०।।
तवल शत वाज कत भेरि भरे फुक्किआ
प्रलय घण सद्द हुअ रण रव लुक्किआ
तुलुक कस हरखँ हँस[5] तुरय असफालहीं
मानधर मारि कर कट्टि करवालहीं
हत्थ्य चलइ गय गलइ पय पलइ तं खणे[6] ।।७५।।
सत्तु घरँ उपजु डर निन्द नहिं मंखणे
खमा लइ गव्व कइ तुलुक जब जुज्झइ
अपि सगर सुर नअर स ंक पलि मुज्झइ
सोखि जल कियउ थल पत्ति पअ भारहीं
जानि धुअ स ंक हुअ सअल स ंसारहीं ।।८०।।

---

१. शा० दोनों पंक्तियों में रज्ज खंडिअ है। ख में ओ जीगीषु कुम जगात मंडिअ है; आगे कुछ नहीं है।
२. ख. नलिनी पत्र जिमि महि चलइ तक्तीण सुल्तान।
३. ख. चलेउ जखण।
४. क० शा० कुरुम भण धरणि सुण रणि वल नाहि मो।
५. क०तुलुक लख हरषि हँस अग्रि धैं सफालहीं।
६. क० शा० मअ गणइ पअ पलइ भागि चलइ जं खणे।

केवि करि बांधि धरि चरण तल अप्पिआ
केवि पर नामि करि अप्पु करे थप्पिआ
(चौसा अन्तर दीप दिगतन्र पातिसाह दिग विजय भम[1]
दुगम गाहन्ते कर चाहन्ते बेवि साथ सम्पलइ जम)

छपद

वन्दी करिअ विदेस गरुअ गिरि पट्टन जारिअ ॥८९॥
साअर सींवा करिअ पार भै पारक मारिअ
सरवस डांडिअ[2] सत्तु घोल लिअ पञेडा धांवे
एक ठाम उत्तरिअ ठाम दस मारिअ धावें
इबराहिमसाह पयान ओ पुहुवि नरेसन कवन सह
गिरि साअर पार उँवार नहीं रैयत भेले जीव रह ॥९०॥

बालिछन्द

रैयत भेले जाहाँ जाइअ
षढ एकओ छुअए न पाइअ
वढि साति छोटाहु काज
कटक लटक पटक बाज
चोर घुमाइअ नायक हाँथे
दोहाए पेलिअ दोसरे मांथे ॥९९॥
सँरे कीनि पानि आनिअ
पीवए षयो कापडे छानिअ
पान क सए सोनाक टङ्का[3]
चन्दन क मूल इन्धन विका ॥१००॥
वहुल कौडि कनिक थोड
घीवक बेचाँ दीअ घोड
करुआ क तेल आँगे लाइअ
वाँदि वढ दासओ छपाइअ[4]

---

१. ख. प्रति में नहीं है और छन्द की दृष्टि से भी प्रक्षित जान पड़ता है।

२. ख. सरवस हिंडिअ।

३. ख. पान क सत सोने क टंका जा।

४. ख. वादि वरवढ दास पाइअ।

रड्डा

पुब्व गमिअउ दूर देगान्तर ॥१०९॥
रण साहस वहु करिअ बहुल ठाम फल मूल भक्खिअ
तुलक संगे संचार परम कट्ठे आचार रक्खिअ
सम्वल निरवल किरिस तनु अम्बर भेल पुराण
जवन सभावहि निक्करुण तौ ण सुमरु सुरतान
विभँ हीन नत्थि वाणिज्य ॥११०॥
णहु विदेस अण संभरइ नहु मान धनक्खि भिक्ख भावइ
राय घरहि उंप्पत्ति नहि दीन वअन नहु वअन आवइ
सेविअ सामि निसंक भए दैव न पुरवए आस
अहह महत्तर किक्करउँ गवडओ गणिज उँपास
पिअ न चिन्तइ, वित्त णहु ॥११९॥
मित्त नहु भोअन संपजइ मित्त भागि भुक्खे छड्डिअ
घोर घास नहु लहइ दिवस दिवसे अति दुक्ख वड्डिअ
तवहु न चुक्किअ एक्को सिरि केसव कायथ्थ
अरु सोमेसर सब्ब गहि सहि रहिअउ दुरवथ्थ

दोहा

वाणिज होइ विअक्खणा धम्म पसारइ हट्ट ॥१२०॥
भित्ता मित्ता कञ्चना विपथकाल कसपट्ट

गद्य

तैसना परमकाष्ठा करे पस्तार दुहु सोदर समाज, अनुचित्त लज्जा,[1] आचारक रक्षा, गुणक परीक्षा हरिश्चन्द्र क कथा, नलक व्यवस्था, रामदेव क रीति, दान प्रीति, निज एक पाणिगाह साहस[2] उत्साह अकृत्य बाधा वलिकर्णदधीचि ॥१२९
करो स्पर्धा साध।

---

१. ख. अचिन्तित लाज
२. ख. मित्र पाणिगाह उत्साह

दोहा

तं खणे चिन्तइ एक पइ कित्तिसिंह अरु राए
अमंह एत्ता दुक्ख सुनि किमि जिविहि मझु माए
(अछै मन्ति विअक्खणा तिरहुति केरा खंभ
मज्झु माय निअ दीजिहि × × × हथल बन्ध)[1]

छन्द (पज्झटिका)

तहां अछए मन्ति आनन्द खाण
जे सन्धि भेद विग्गहउ जाण
सुपवित्त मित्त सिरि हंस राज
सरवस्स उपेक्खइ अम्ह काज
सिरि अम्ह सहोअर राअ सिंह
सङ्गाम परक्कम रुद्ध सिंह
गुणे गरुअ मन्ति गोविन्द दत्त
तसु वंस वडाई कहओ कत्त
हर क भगत हरदत्त नाम
सङ्गाम कम्म अज्जुन समान[2] ॥१४०॥
(हरिहर धम्मावीकारी
जिसु पण तिण लोइ पुरसत्थ चारी
णय मग चतुर ओझा मरेस
तिसु पणति न लागै कलु खलेस
न्याय सिंघ राउत सुजाण ॥१४५॥
सङ्गाम परक्कम अज्जुण समाण[3])

दोहा

तसु परबोधें माए मझु धुअ न धरिज्जिहि सोग
विपइ न आवइ तासु घर जसु अनुरत्ते ओ लोग

---

१. यह दोहा क तथा शा० दोनों में नहीं हैं।

२. ख. माणो सङ्गाम परक्कम परसराम।

३. पंक्ति १४१-४६ तक क और शास्त्री० दोनों ही प्रतियों में नहीं है।

चापि कहओ सुलतान के झाटे करेओ उपाय
बिनु बोलन्त जे मन पलइ अवेक्त सहत जेराय ।।१५०।।

रड्डा

जेन्हें साहस करिअ रण छप्प
जेन्हें अग्गि धँस करि जेन्हे सिंह केसर गहिज्जिअ
जेन्हें सप्पफण धरिज्जिअ जेन्हें रुट्ठ हुअ यम सहिज्जिअ
तेन्हें वेवि सहोअरहिं गोचरिउँ सुरतान
तावे न जीवन नेह रइ जावे न लग्गइ मान ।।१५५।।

ताप लहिअ काल सुपसन्न
पुनु पसन्न विहि हुअउ पुनुवि दुक्ख दारिद खंडिअ
कटकाजी तिरहुत्ति राअ रण उच्छाहे मंडिअ
फलिअउ साहस कम्म अरु सम्नगगाह फरमान
पुहुवी तासु असक्य की जसु पसन्न सुल्तान ।।१६०।।

दोहा

(पक्खव[1] न पाएँ पउआ अङ्ग न राखै राउ
कूर न वोलै सूअरण धम्मंमति कइ जाउ) ।।१६२।।

श्लोक

वलेन रिपु मण्डली समरदर्पसंहारिणा
यशोभिरमितो जगत्कुसुमचन्द्रोपमैः
श्रियावलितचामरद्वय तुरङ्गरङ्गस्थया
सदा सफल साहसो जयति कीर्तिसिंहोनृपः

इति श्री विद्यापतिविरचितायां कीर्तिलतायां तृतीयः पल्लवः ।।

---

१. यह दोहा केवल ख प्रति में हैं ।

चतुर्थ पल्लव

अथ[1] भृङ्गी पुनः पृच्छति

कह कह कन्ता सच्चु भणन्ता किमि परिसेना सञ्चरिआ
किमि तिरहुत्ती हुअउँ पवित्ती अरु असलान किक्करिआ
कित्तिसिंह गुण हओ कओ पेअसि अप्पहि कान
विनु जने विनु धने धन्धे विनु जें चालिअ सुरतान ॥८॥
गरुओ वेवि कुमार ओ गरुओ मणिक असलान
जोसु लाजे जाहि के आप[2] चलु सुरतान

गद्य

सुरतान के फरमाने सगरे राह सम रोल पलु
लक्खावधि पयदा क शब्द, वाद्य पब, पर वखत उप्पलु
वाद्य वाजु, सेणा साजु[3]। करि तुरंग पदाति संघट्ट भेल ॥१०॥
वाहर कए दनेज देल।

दोहा

सज्जइ सज्जइ रोल पलु जानिअ इथिथ न उथ्थि
राय मनोहर सम्पलिअ कटकाओ तिरहुत्ति
पक्खमहि सज्जिअ हथ्थिवर तो रह सज्जि तुरङ्ग
पाइक्कह चक्कह को गणइ चलिअ सेन चतुरंग ॥१२॥

मधुभार छन्द

अणवरत हाथि मयमत्त जाथि
भागन्ते गाछ चापन्ते काछ
तोरन्ते ओल[4] मारन्ते घोल

---

१. पंक्ति १ और ६-७ ख प्रति में नहीं हैं।

२. शा० जासुलाजे जाहि के आए।

३. लक्खावधि...सेणसाजु' ख में नहीं है। कादी वोजा म खदुम खक भी पाठ है। शा० में नहीं मिलता।

४. ख० उहत्त रोर

संगाम थेघ	भूमिह मेघ	
अन्धार कूट	दिग्विजय छूट	॥२०॥
ससरीर गव्व	देखन्ते भव्व	
चाखन्ते काब	पव्वअ समाब	

गद्य

गरुअ गरुअ मुण्ड,[1] मारि दस सथि मानुस करो मुण्ड विन्ध सओ विधाताओ किनि काढल। कुम्भोद्भव करे नियमातिक्रम पेलि पव्वतओ वाढल। धाए ॥२५॥ खनए मारए जान, महाउओ क आंकुस महते मान।

दोहा

पाइग्गाह पअ भरें भउँ पल्लानिअउँ तुरंग
थप्प थप्प थनवार कइ सुनि रोमञ्चिअ अंग

णाराज छन्द

अनेक वाजि तेज ताजि साजि साजि आनिआ
परक्कमेहि जासु नाम दीप दीप[2] जानिआ ॥३०॥
विसाल कंध चारु बन्ध सत्ति रूअ सोहणा
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा
समत्थ सूर ऊरपूर चारि पाओ चक्करें
अनन्त जुज्झ मम्म बुज्झ सामि काज संगरे
सुजाति सुद्ध कोहे कुद्ध तोरि धाव कन्धरा ॥३५॥
विशुद्ध दापे मार टापे चूरि जा बसुन्धरा
विपक्ख केन मेन हेरि[3] हिंसि हिंसि दाम से
निसान सद्द भेरि संग खोणि खुन्द ताम से
तजान भीत वात जीत चामरेहि मण्डिआ
विचित्त चित्त नाच नित्त राग वाग पण्डिआ ॥४०॥

एवञ्च

विछि वाछि तेज ताजि
पक्खरेंहि साजि साजि

---

1. शा० शुण्ड 2. ख० ठाँमे ठाने।
3. ख० विपक्ख सर समेण हेरि

लष्ख संख आनु घोर
जासु मूले मेरु घोर

गद्य

कटक चांगरे चांगु[1] । वांकुले वांकुले वअने काचले काचले नअने । अँटले अँटले बाधा,[2] तीखे तरखे कांधा ।[3] जाहि करो पीठिआ पुक्करो अहंकार सारिअ । पर्वतओो लाँघि पारक मारिअ । अखिल सेनि सत्तु करी कीर्तिकल्लोलिनी लाँघि भेलि पार, ताहि करो जल सम्पर्के चारहु पाओ धोषार। मुरली मनोरी,[4] कुण्डली, मण्डली प्रभृति नाना गति ।।५०।। करन्ते भास कस, जनि पाय तल पवन देवता वस । पद्म करे आकारे मुँह पाट जनि स्वामी करो यशश्चन्दन तिलक ललाट।

छपद

तेजमन्त तरवाल तरुण तामस भरें वाढल
सिन्धु पार संभूत तरणि रथ हइतें काढल
गवण पवन पडुवात्र वेगे मानसहु जीतिजा ॥५१॥
धाय धूप धसमसइ वज्ज जिमि गज्ज भूमि पा
संगाम भूमितल सञ्चरइ नाच नचावइ विविह परि
अरिराअन्ह लच्छिअ छोलि ले पूर आस असवार कइ

रड्डा

तं तुरंगम चलिअ सुलतान
ध्वज चामर विथरिअ, तसु तुरंग कत पोंचि[5] आनिअ ॥६०॥
जसु पौरुष बर लहिअ रायधरहिं दिसि विदिस जानिअ
वेवि सहोअर रायगिरि लहिअउँ बेवि तुरंग
पास पसंसए सब्ब जा दूर सत्तु ले भंग

---

१. कटक चांगरे चांगु पाठ अप्रासंगिक लगता है । शास्त्री० में नहीं है ।
२. ख० आटुल वाटुले वाधा । ३. ख० पातरी तीखरी काधा ।
४. ख० मुररि, मरोरी ५. ख. संचि ।

छपद

तेजी ताजी तुरअ चारि दिशि चप्परि छुट्टइ
तरुण तुरुक असवार बाँस जओ चाबुक फुट्टइ ॥६९॥
मोआजे मोजे जोरि[1] तीर भरि तरकस चापे
सींगिनि देइ कसीस गव्ब कए गरुजे दापे
निस्सरिअ फौद अणवरत कत तत गणना पार के
पअभार कोलआहि भोलकहि कुरुम उँलटि करवट्ट दे

अरिल्ल

कोटि धनुद्धर धावथि पाइक ॥७०॥
लख्ख संख चलिअउँ ढलवाइक
चलु फरिआ इक अंगे चंगे
चमक होइ खग्गग्ग तरंगे
मत्त मगोल बोल नहिं बुज्झइ
धुन्दकार कारण रण जुज्झइ ॥७१॥
कांच मास कवहुँ कर भोअण
कादम्वरि रसे लोहित लोअण
जोअन बीस दिनद्धे धावथि
वगल क रोटी दिवस गमावथि
वेलक[2] काटि कमानहिं जोरें ॥८०॥
धाजे चलथि गिरि उप्परि घोरें
गो वम्भन वध दोस न मानथि
पर पुर नारि वन्दि कए आवथि
हस हरषे रुण्ड हासह जहिं
तरुणे तुरुक वाचा सए सहसहिं ॥८१॥
अरु कत धाँगड़ देषिअथि जाइतें
गोरु मारि विसमिल[3] कए षाइतें

---

1. ख. मौजे मौजे जोरि । 2. ख. वलके ।
3. क० शा० मिसमिल ।

दोहा

अरु धागड़ कटकहिं लटक वड जे दिसि धाड़े जाथि
तँ दिसकेरी रायघर तरुणी हट्ट विकाथि[१]

माणवहला छन्द

साबर एक हो कतन्हि का हाथ ॥९०॥
चेथइअे कोथइअे[२] वेढल माथ
दूर दुग्गम आग जारथि
नारि विभारि वालक मारथि
लूडि अरजन पेटे वए
अन्याअे वृद्धि कन्दल खए ॥९५॥
न दीनक दया न सकृता क डर
न वासि सम्वर न विआहीं घर
न पाप क गरहा न पुन्यक काज
न शत्रु क शङ्का न मित्र क लाज
न थीर वचन न थोड़े आस ॥१००॥
न जसे लोभ न अपअस आस
न शुद्ध हृदय न साधुक संग
न पिउँवा उपसओ न युद्ध भंग[३]

दोहा

ऐसो कटकहि लटक वड जाइते देषिअ वहूत
भोअण भक्खण छाड़ नहिं गमणे न हो परिभूत ॥१०५॥
ता पाछे आवत्त हुअ हिन्दू दल गमनेन
राआ गणए न पारिअइ राउत लेक्खइ केन

पुमानरी छन्द

दिगन्तर राआ सेवा आआ ते कटकाजी जाहीं
निअ निअ धन गव्वे संगर भव्वे पुहमी नाहिं समाहीं

---

१. ख. हाट विकाहिं । २. ख. चेथरा कोथरा ।
३. ख. न पिउँवा उपसंग न जुझवा भंग ।

राउत्ता पुत्ता[१] चलइ बहुत्ता पश्र भरे मेइणि कम्पा ॥११०॥
पत्तापे चिन्हे भिन्ने भिन्ने धूलि रह रह झम्पा
जोअण्डा[२] धावहिं तुरग नचावहिं वोलहिं गाढिम वोला
लोहित पित सामर लछिअउँ चामर सवणहिं कुण्डल डोला
आवत्त विवत्ते पअ परिवत्ते जुग परिवत्तन भाना[३]
घन तवल निसाने सुनिअ न काने साणे वुझावइ आना ॥११५॥
वेसरि अरु गद्दह लक्ख वृद्दह इति का महिसा कोटी
असवार चलन्ते पाअ घलन्ते पुहवी भए जा छोटी
पीछे जे पडिआ ते लडखडिआ वइठहिं ठामहिं ठामा
गोहरा नहिं पावहिं, वथ्थु नचावहिं भूलल भवहिं गुलामा[४]
तुलकन्हि के फौंद हउद्दे हउद्दे चप्परि चौदिस भूमी ॥१२०॥
अउताक धरन्ते कलह करन्ते हिन्दू उतरथि भूमी
अस पथ एक चोइ गणिअ न होइ सरइ चासर माणा
वारिमाह मण्डल दिग आखण्डल पट्टन परिठम भाणा

छपद

जवणे चलिअ सुरतान लेख परिसेष जान को
धरणि तेअ सम्बरिअ अट्ठ दिगपाल कट्ठ हो ॥१२५॥
धरणि धूल अन्धार, छोड्डू पेअसि पिअ हेरब
इन्द चन्द आभास कवन परि एहु समय पेल्लव
कन्तार दुग्ग दल दमसि कहुँ खोणि खुन्द पअ भार भरे
हरिशंकर तनु एक्क रहु वम्भ हीअ डगमगिअ डरे
महिस उंठ मनुसाए[५] खाए असवारहिं मारिअ ॥१३०॥
हरिण हारि हल वेग भरए करे पाइक पारिअ
तरसि रहिअ सस मूस उड़ि आकास पक्खि[६] जा

---

१. ख. राउत पाइक्का २. ख. जोयण

३. ख. प्रति में परिवत्ते के बाद पाठ नहीं मिलता।

४. क० शा० भूलल भुलहिं गुलामा

५. ख. अगिराए ६. ख. मूस पेखि आकास उड़ि जा

एहु पाए दरमणिअ ओहु सैच्चान खेदि खा
इबराहिम साह पआनओ जं जं सेना सञ्चरइ
खणि खेदि खुखुन्दि धसिमरइ जीवहु जन्तु न उब्बरइ ॥१३९॥

गद्य

एवञ्च दूर दीपान्तर राअन्हि करो निद्रा हरन्ते
दल विहल चूरि चोपल करन्ते,[१] गिरि गह्वर गोहन्ते[२]
सिकार खेलन्ते, तीर मेलन्ते•वन विहार जल कीडा करन्ते
मधुपान बसन्तोसत्व करी परिपाटी राज्य सुख अनुभवन्ते
परदप्प भमि भंजन्ते वाट सन्तरि तिरहुत पइठ, तकत ॥१४०॥
चढ़ि सुरतान वइठि।

दोहा

हुहु केआनी सुनि कहुँ तं खणं भौ फरमाण
केन पआरें निरगाहिअ वड़ समथ्थ असलान

रड्डा

तो पअंप्पई कित्तिभूपाल
की कुमत्त पहु करिअ हीण वयण का समय जल्पिअ ॥१४९॥
की पर सेना गुणिअ काइं सत्तु सामथ्थ कथिअ[3]
सव्वउं देख्खउं पिट्ठि चडि हओ लावओ रण भाण
पाषरें पाषरें ठेल्लि कहुँ पकलि देओ असलाण

छपद

अज्ज वैरि उद्धरओ सत्तु जइ संगर आवइ
जइ तसु पख्ख सपख्ख इन्द अप्पन वल लावइ ॥१५०॥
जइ ता रख्खइ शम्भु अवर हरि वंभ सहित भइ
फणिवइ लागु गोहारि चाप जमराज कोप कइ
असलान जे मारओ तओ हुअओ तासु रुहिर लइ देओ पा
अपमान समय निअ जीव धके जै नहिं पिट्ठ देषाए जा

---

१. ख. दरि विहड़ चूरि चाप करन्ते।
२. केवल ख प्रति में है।
३. शा० क० पखरि तुरंगम भेल्लि गण्डक के पाणी।

दोहा

तब फरमाणहि वाँचिअइ सएलह सभ को सार ॥१५५॥
किन्ति सिंह के पूजनहिं सेना करिअउ पार

रोला छन्द

पैरि तुरंगम भेलिपार गण्डक का पाणी[1]
परवल भंजनिहार मलिक महमद गुमानी[2]
अस असलाने फौंदे फौंदे निज सेना सज्जिअ
भेरी काहल ढोल तवल रण तूरा वज्जिअ
रायपुरहिं का पुब्व षेत पहरा दुइ बेरा
बेवि सेन सङ्कट मेल वाजल[3] भट भेरा
पाओ पहारे पुहुवि कप्प गिरि सेहर टुट्टइ
पलय विट्ठि सञो पडइ कोँड पटवारण[4] फुट्टइ
वीर हुकारें होंहि आगु रोवंचिअ अङ्गे[5] ॥१६५॥
चौदिस चकमक चमक्क होइ खमाग्ग तरङ्गे
तोवि तुरय असवार धाए पइसथि परयुत्थे[6]
मत्त मतङ्गज पाछु होथ फरिआइत सत्थे
सिंगिणि गण टङ्कार भार[7] नह मण्डल पूरइ
पाषर उट्ठइ फौंदे फौंदे पर चक्कह चूरइ ॥१७०॥
तामसें वड्ढइ वीर-दप्प विक्कम गुण चारी
सरमहु केरा सरम गेल सरमेरा सारी

दोहा

चौफ्ट मेइनि मारि[8] हो परइ खण्ड कोदण्डे
चोट उपटि पटवार दे थेघे निज भुज दण्डे

---

१. ख. पवरि तुरंगम भोलि गण्डक के पाणी ।
२. क० शा० परवल भंजन गरुअ महमद मदगामी ।
३. शा० क० भेटें, वाजन । ४. शा० क० पटवालह ।
५. शा० क० वीर बेकारे आगु हो अथि रोमंचिअ अङ्गं ।
६. शा० क० परघत्थें । ७. शा० क० भाव
८. शा० क० भेट ।

विदुम्माला छन्द

हुँकारे वीरा गज्जन्ता पाइक्का चक्का भज्जन्ता ॥१७९॥
धावन्ते धारा टुट्टन्ता सन्नाहा वाणे फुट्टन्ता
(राउत्ता रोसं लग्गीआ खग्गाहीं खग्गा भग्गीआ[1])
आरुट्टा सूरा आवन्ता उमग्गे मग्गे धावन्ता
एक्के एक्के भेटन्ता परारी लच्छी मेटन्ता
अप्पा नामाना सारन्ता वेलक्के सत्तू मारन्ता ॥१८०॥
ओआरे पारे[2] बूझन्ता कोहाणे वाणे जूझन्ता

छपद

दुहुँदिस पाखर ऊँठ माँझ सङ्गाम भेंट हो[3]
खग्गे खग्गे सङ्घलिअ फुलग उप्फलइ अग्गि को
अस्सवार असिधार तुरअ राउत सओ टुट्टइ
वेलक बज्ज निघात काअ कवचहु सओ फुट्टइ ॥१८१॥
अरि कुञ्जर पञ्जर सल्लि रह रुहिर धार गअ गगण भर
रा किर्त्तिसिंह को कज्ज रसं वीरसिंह संगाम कर

रड्डा

धम्म पेक्खइ अवरु सुरतान
अन्तरिक्ख ओत्थविअ इन्द चन्द सुर सिद्ध चारण
विज्जाहर गाह भरिअ वीर जुज्झ देक्खइ कारण ॥१९०॥
जहिं जहिं संचल सत्तु चल तँहि तँहि पल तरवारि
शोणित मज्जाओ मेइनी किर्त्तिसिंह करु मारि

भुजङ्ग प्रयात छन्द

पले रुण्ड मुण्डो खरो वाहु दण्डो
सिआरू कलंकोइ[4] कङ्काल खण्डो
धरा धूरि लोट्टन्त टुट्टन्त काआ ॥१९१॥
लरन्ता चलन्ता पञ्झालेन्ति पाआ

---

१. यह पंक्ति ख में नहीं है और तुक को देखते हुए इसका न होना संभव है।
२. शा० क० अओ अपारा पारा बूझन्ता
३. ख० दुहु दिस वजन बज्ज मास संगाम खेत हो।
४. ख. सिआरे कलंकेइ

अरुज्झाल अन्तावली जाल वद्धा
वसा वेग वृडन्त उड्डन्त गिद्धा
गअएडी[1] करन्तो पिवन्तो रमन्तो[2]
महामासु खण्डो परत्तो[3] भरन्तो ॥२००॥
सिआसार फेक्कार रोलं करन्तो
वुभुक्खा वहू डाकिनी डक्करन्तो
वहुफ्फाल[4] वेआल रोलं करन्तो
उलट्टो पलट्टो पेलन्तो कवन्धो
सरोसान भिन्ना करे देइ सानो ॥२०५॥
उमस्से निसस्से विमुक्केइ पाणो[5]
जहाँ रत्त कल्लोल ना ना तरङ्गो
तहाँ सारि सज्जो निमज्जो मंयगो

छपद

रक्त करांगन[6] माथ उफरि फेरवी फोरि रवा[7]
हाथे न उट्ठइ हाथि छाडि वेआल पाछु जा ॥२१०॥
नर कवन्ध धरफलइ मम्म वेआवह पेल्लइ
रुहिया तरङ्गिणि तीर भूतगण जरहरि[8] खेल्लइ
उछलि उमरु डेक्कार वर सब दिसे डाकिन डक्करइ
नर कवन्ध यह भरइ कित्तिसिंहरा रण करइ
वेवि सेन संघट्ट खग्ग खंडल नहि मानहिं[9] ॥२१५॥
संगर पलइ सरीर धाए गए चलिअ विरानहिं[10]

---

१. ख. गया
२. शा० क० भरन्तो। तुक और अर्थ की दृष्टि से रमन्तो ठीक है।
३. शा० परेतो। ४. ख. मुहु फाल।
५. ख. सराबार साती ने देइ सार्णं, उसस्से निसस्से ममुक्केय प्राणं
६. ख. करागव।
७. ख. फेरि विफेरि खा
८. शा० जरफरि।
९. ख० वेवि सयाण संघट्ट मेलि......
१०. ख० अगिगम परै सरीर वीर चहहिं बराणहिं

अन्तरिष्ख अछ्वारि का कमल ? विज्जु[1] अंचल
भमर मनोभव भमइ पेम पिच्छल नयनाञ्चल[2]
गन्धव्व गीति दुन्दुहिअ वर परिमन परिचय जान को
वर कित्तिसिंह रण साहसहिं सुरअरु कुसुम सुविट्ठि हो ॥२२०॥

रड्डा

तब चिन्तइ मलिक असलान
सब्व सेन महि पलिअ गातिसाह कोहान आइअ[3]
अनअ महातरु फलिअ दुट्ठ दैव महु निअर आइअ
तो पल जीवन पलटि कहुँ थिर निम्मल जस लेओ
कित्तिसिंह सओ सिंहसओ भट्ट मेल्लि एक देओ ॥२२५॥

छन्द

हसि दाहिन हथ्थ समथ्थ भइ
रण रत्त पलट्टिअ खग्ग लइ
तँह एक्कहि एक्क पहार पले
जहि खग्गहि खग्गहिं धार धरे
हय लग्गिअ चक्किम चारु कला ॥२३०॥
तरवारि चमक्कइ विज्जु झला
टरि टोप्परि टुट्टि शरीर रहे
तनु शोणित धारहिं धार वहे
तनुरंग तुरंग[4] तरंग वसे
तनु छड्डइ लग्गइ रोस रसे ॥२३५॥
सव्वउ जन पेख्खइ जुज्झ कहा
महभावइ अज्जुन कन्न जहा
नं आहव माहव सत्तु करें
वाणासुर जुज्झइ युत्त भरें
महराअन्हि मल्लिकें चप्पिलउँ ॥२४०॥

---

१. ख० अन्तरिष्ख अपछरा वाण यकै ।
२. ख० जनु भवै पेम पेखिअ नयणांचल ।
३. शा० में 'आइअ' नहींहै । ४. क० में तुरंग नहीं है ।

असलान निजानहु पिट्ठि दिउँ
तं षणे पेष्खिअ राय सो अरु सुष्खेअ करेओ
जे करे मारिअ वप्प महु से कर कमन हरेओ

गद्य

अरे अरे असलान प्राणकातर अवज्ञात मानस समर परित्याग साहस धिक जीवनमात्ररसिक की जासि ॥२४५॥ अपजस साहि, सत्तु केरी डीठि सओ पीठि दए भाहु मैसुर क सोझ जाहि ।

दोहा

जै धके जीवसि जीव सओ जाहि जाहि असलान
तिहुअण जगइ किति मम तुज्झ दिअउँ जिवदान
जइ रण भगासि तइ तोञ काअर ॥२५०॥
अरु तांहे मारइ से पुनि काअर
जाहि जाहि अनुसर गए साअर
एम जंपइ हँसि हँसि वे नाअर

रड्डा

तो पलट्टिअ जित्ति रण राए
शंखध्वनि उच्छलिअ नित्त गीत वज्जन वज्जिअ ॥२५५॥
चारि वेअ झंकार सुह मुहुत्त अभिषेक किज्जिअ
बन्धव जन उच्छाह कर तिरहुति पाइअ रूप
पातिसाह जसु तिलक कर किर्तिसिंह भउँ भूप

श्लोक

एवं संगरसाहसप्रमथन प्रालब्धलब्धोदयाँ
पुष्णाति श्रियमाशशांक तरणीं कीर्तिसिंहो नृपः
माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशो विस्तारशिक्षासखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलनकवेर्विद्यापते भारती ।

इति महामहोपाध्याय सट्ठक्कुर विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां चतुर्थः पल्लवः समाप्तः । शुभम् ।[1]

---

[1] ख० प्रति में प्रतिलिपि करने वाले के विषय में दिया है :

संवत ७४७ वैशाख शुक्ल तृतीयायां तिथौ । श्री श्री जयज्जगज्योतिर्म्मल्ल-देव भूपाज्ञया दैवज्ञ नारायण सिंहेन लिखितमिदं पुस्तकं सम्पूर्णमिति । शिवम्

हिन्दी भाषान्तर

प्रथम पल्लव

पिता जी, मुझे स्वर्गगा का मृणाल ला दीजिये। पुत्र, वह मृणाल नहीं, वह तो सर्पराज है। यह सुनकर गणेश रोने लगे और शंभु के मुँह पर हँसी छा गई। यह देखकर पर्वतराज कन्या पार्वती को बड़ा कौतूहल हुआ। वह कौतूहल तुम्हारी रक्षा करे।१॥ शंभु के तीन प्रकाशपूर्ण नेत्र हैं, चन्द्र, सूर्य, और अग्नि। वे अज्ञान रूपी तिमिर के नाश करने वाले हैं। उन भगवान शंकर के कमल चरणों की मैं वन्दना करता हूं। २। सरस्वती तुम्हारी रक्षा करें। जो सब प्रकार के अर्थबोध के लिये द्वार-रूप हैं। जिह्वा रूपी रंगस्थली की वे नर्तकी हैं। तत्व को आलोकित करने वाली दीप शिखा हैं, विदग्धता के लिये विश्राम-स्थल हैं, शृङ्गारादि रसों की निर्मल लहरियों की मन्दाकिनी हैं और कल्पान्त तक स्थिर रहने वाली कीर्ति की प्रिय सखी हैं। ३। कलयुग में घर-घर काव्य है, नगर-ग्राम सर्वत्र उसके श्रोता मिलते हैं। देश देश में उसके मर्मज्ञ हैं, पर दान देने वाले दुर्लभ हैं। ४। महाराज कीर्तिसिंह काव्य के श्रोता हैं, रसज्ञाता हैं और दान देने वाले भी हैं। काव्य की रचना भी करते हैं, कवि विद्यापति उनके लिये सुन्दर काव्य की रचना करते हैं। ५।

दोहा—यदि अक्षर रूपी खंभे गाड़कर (आरम्भ कर) उस पर मंच न बाँध दें, तो त्रिभुवन-क्षेत्र में उसकी कीर्तिलता किस तरह फैलेगी। मेरा ऐसा-वैसा काव्य यदि ख्याति प्राप्त कर ले तो बहुत है। दुष्टजन इसको खेल के बहाने निन्दा करेंगे, पर सज्जन लोग इसकी प्रशंसा करेंगे। सज्जन मेरे काव्य को सराहेंगे, दुज्जन बुरा कहेंगे। ५। विषधर निश्चय ही विष उगलता है, चन्द्रमा अमृत वर्षण करता है। सज्जन मनहिं मन सबको मित्र समझ कर शुभ चिन्ता करताहै। भेद (त्रुटि) को कहने वाला दुर्जन कभी भी मेरा शत्र नहीं है। वालचन्द्र और विद्यापति की भाषा इन दोनों को दुष्टजन की हँसी (उपहास) नहीं लगती। वह (वालचन्द्र) परमेश्वर शंकर के माथे सुशोभित होता है, और यह भाषा चतुर लोगों के मन को मुग्ध करती है। मैं क्या प्रबोधन करूँ। किस प्रकार मनाऊँ! नीरस मन में रस लाकर कैसे भर दूं। यदि मेरी भाषा सुरसा होगी १५

तो जो भी उसे समझेगा, वही उसकी प्रशंसा करेगा। मधुकर कुसुम रस (मकरन्द) को जानता है और छइल्ल (विज्ञपुरुष) काव्य कला का मर्म जानता है। सज्जन परोपकार में मन लगाते हैं। दुर्जन का नाम ही घृणित है। संस्कृत भाषा केवल विद्वान लोगों को अच्छी लगती है। प्राकृत भाषा में रस का मर्म नहीं होता। २०। देसी वचन सबको मीठा लगता है, इसीलिए वैसा ही अवहट्ट मैं लिखता हूँ।

दोहा—भृंगी पूछती है—भृंग सुनो। संसार में सारतत्व क्या है, मानिनि मान के साथ जीना और वीर पुरुष का पैदा होना। 'नाथ, यदि कहीं वीर पुरुष जन्मा हो तो आप नाम क्यों नहीं लेते। २५। यदि सोत्साह स्फुट रूप से कहो तो मैं भी सुनकर तृप्त होऊँ'

कीर्तिप्राप्त, संग्राम में वीरता दिखाने वाला, धर्म प्रयाण हृदय वाला तथा जो विपत्तियों के बार-बार आने पर भी दीन वचन न बोलता हो। सज्जन लोग जिसकी सम्पत्ति का आनन्द पूर्वक आसानी से उपभोग कर सकें। एकान्त में किसी को द्रव्य की सहायता देकर जो उसे भूल जाये, सत्वभरा सुरूप शरीर वाला हो। ३०। इतने लक्षणों से युक्त पुरुष को मैं वीर मानकर उसकी प्रशंसा करता हूँ।

जदौ (यदुक्तम्!) पुरुषत्व से।पुरुष (श्रेष्ठ) है। केवल जन्म लेने से पुरुष (श्रेष्ट) नहीं है। जलदान से जलद-जलद है, धूम का पुंज जलद नहीं है। पुरुष वही है जिसका सम्मान हो, जो अर्जन की शक्ति वाला हो, इतर लोग पुरुष के आकार में पुच्छहीन पशु की तरह हैं। ३५।

दोहा—सुपुरुष की मैं कहानी कहता हूँ! जिसके प्रस्ताव (कथन) से पुण्य होता है सुख मिलता है, सुभोजन, सुभवन और पुण्य के कारण देवगृह (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है।

छपद—पुरुष राजा बलि हुए थे जिनके आगे कृष्ण ने हाथ पसारा। पुरुष रामचन्द्र हुए जिन्होंने बल से रावण को मारा। पुरुष राजा भगीरथ हुए जिन्होंने अपने कुल का उद्धार किया। परशुराम पुरुष थे जिन्होंने क्षत्रियों का नाश किया। और पुरुष राजश्रेष्ट गणेश्वर के पुत्र कीर्तिसिंह हैं जिन्होंने शत्रुओं को समर में मर्दित करके अपने पिता के बैर का बदला लिया। ४३।

दोहा—यह राज-चरित बड़ा रसपूर्ण है. नाथ इसे गुप्त न रखें। वह राजा किस वश का था, कीर्तिसिंह कौन थे। ४५।

रड्डा -- वे तर्क-कर्कश, तीनों वेद पढ़े हुये थे। उन्होंने दान से दारिद्रय का दलन किया थे। परब्रह्म परमार्थ को समझते थे। धन से कीर्ति प्राप्त करते और संग्राम में शत्रु से युद्ध करते थे। ओइनो वंश के प्रसिद्ध उस राजा की सेवा कौन नहीं करता ? दोनों एकत्र दुर्लभ हैं एक तो भुजपति (राजा) और दूसरा ब्राह्मण। (कीर्ति सिंह दोनों ही हैं) ।५०।

जिन्होंने पूर्व (यश प्राप्त) बलि और कर्ण को खंडित (पराजित) किया। जिन्होंने शरण नहीं चाहा, जिन्होंने अर्थार्थी लोगों को विमन नहीं किया, जिन्होंने असत्य भाषण नहीं किया और कभी कुमार्ग पर पैर नहीं दिया उसके वंश का बड़प्पन वर्णन करने का उपाय (शक्ति) कहाँ ? जिस कुल में कामेश्वर के समान व्युत्पन्नमति राजा हुये ।५५।

छपद—उसके पुत्र भोगीशराय, इन्द्र के समान श्रेष्ठ भोगों को भोगने वाले थे तेज में हुताशन (अग्नि) की तरह और कान्ति में कुसुमायुध कामदेव की तरह हुए। वे याचकों के मनोवांछित देने वाले, क्षेत्रदान (भूमिदान) में बलि की तरह पाँच श्रेष्ठ दानियों में एक थे। उन्हें प्रिय सखा कहकर सुलतान फ़िरोजशाह ने सम्मानित किया। उन्होंने अपने प्रताप, दान, सम्मान आदि गुणों से सबको अपने वश में कर लिया और महिमण्डल में कुन्द-कुसुम की तरह धवल-यश को विस्तृत किया ।६१।

उनके पुत्र थे नीति, विनय आदि गुणों में श्रेष्ठ राजा गणेश्वर जिन्होंने दशों दिशाओं में अपने कीर्ति-कुसुम का सन्देश (गन्ध) फैलाया ।६३।

छपद—राजा गणेश्वर दान में श्रेष्ठ थे। उन्होंने याचकों के मन को अनुरंजित किया। राजा गणेश्वर मान में श्रेष्ठ थे। उन्होंने शत्रुओं के बड़प्पन को भंग किया। सत्व में वे श्रेष्ठ थे, उन्होने इन्द्र की बराबरी की। कीर्ति में वे गुरु थे उन्होंने कीर्ति से सारे पृथ्वी मंडल को धवल कर दिया। लावण्य में भी वे श्रेष्ठ थे और देखकर लोग उन्हें 'पंचशर' कहते थे, भोगीश्वर के पुत्र गणेश्वर जगत्प्रसिद्ध श्रेष्ठ पुरुष थे ।६६।

गद्य

उनके पुत्र युवराजों में पवित्र, अगणित गुणों के आगार, प्रतिज्ञापूर्ति में परशुराम, मर्यादा के मंगलमय स्थान, कविता में कालिदास, प्रबल रिपुओं की सेना के सुभटों के बीच युद्ध में साहस दिखाने वाले और अडिग, धनुर्विद्या-वैदग्ध अर्जुन के अवतार, चन्द्रचूड शंकर के चरणों के सेवक, समस्त रीतियों के निबाहने वाले महाराजाधिराज श्रीमत् वीरसिंह देव थे ।७५।

उनके कनिष्ठ किन्तु गुण-श्रेष्ठ भाई श्री कीर्त्तिसिंह राजा हुए, वे पृथ्वी का शासन करें, चिरजीवी हों, और धर्म का परिपालन करें।७७।

गद्य

जिस राजा ने अतुल विक्रम में विक्रमादित्य से तुलना की, साहस के साथ, बादशाह को प्रसन्न करके, दुष्ट (असलान) का दर्प चूर किया, पिता के बैर का बदला लेकर शाह का मनोरथ पूर्ण किया। प्रबल शत्रुओं की सेना के संगठन की भीड़ से पदाघात के कारण चंचल हुये घोड़ों की टाप से क्षुब्ध वसुन्धरा की धूलि के अन्धकार की काली युद्ध-निशा की अभिसारिका जयलक्ष्मी का पाणि-ग्रहण किया। डूबते हुये राज्य का उद्धार किया।८४। प्रभुशक्ति, दानशक्ति, ज्ञानशक्ति तीनों ही शक्तियों की परीक्षा की। रूठी हुई विभूति को लौटा लाए। उनका अहंकार वास्तविक (सार) था उन्होंने तरल कृपाण की धारा से संग्राम रूपी समुद्र मथ कर फेन के समान यश निकाल कर दिगन्त में फैलाया।

ईश (शिव और कीर्तिसिंह) के मस्तक पर विलास करनेवाली विभूति (भस्म और वैभव-श्री) से भूषित यामिनीश्वर चन्द्रमा की कला की तरह कीर्तिसिंह की कीर्तिकामिनी विजय को प्राप्त करे।

विद्यापति ठाकुर विरचित कीर्तिलता का पहला पल्लव समाप्त

द्वितीय पल्लव

भृंगी फिर पूछती है।

किस प्रकार शत्रुता उत्पन्न हुई और उन्होंने कैसे बदला लिया। हे प्रिय, आप यह पुण्य कहानी कहें, मैं सुख पूर्वक सुनूँगी। जब लक्ष्मण सेन सम्वत् का २५२ वाँ वर्ष लिखित हुआ, उसी साल मधुमास के प्रथम पक्ष की पंचमी को राजलुब्ध असलान ने बुद्धि विक्रम बल में राजा गणेश्वर से हार कर, उनके पास बैठ विश्वास दिलाकर उन्हें मार डाला। राजा के मरते ही रण का शोर मचा, मेदिनी में हाहाकार मच गया। सुरराज के नगर (इन्द्रावती) की नागरिकाओं के वामनेत्र फड़कने लगे। (प्रसन्नता सूचक)। ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने जबर्दस्ती घरों पर कब्जा कर लिया। भृत्यों ने स्वामियों को पकड़ लिया। धर्म चला गया, काम धन्धे ठप्प हो गए। खल लोगों ने सज्जनों को पराभूत कर दिया, कोई न्याय-विचार करने वाला नहीं रहा। जाति-कुजाति में शादियाँ होने लगीं, अधम, उत्तम का कोई पारखी नहीं रहा। अक्षर-रस (काव्य-

रस) को समझने वाले नहीं रहे, कवि लोग भिखारी होकर घूमते रहे, राजा गणेश्वर के स्वर्ग जाने पर तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गए। १५।

रड्डा—राजा के वध के बाद असलान का रोष शान्त हुआ। अपने मन ही मन तुर्क असलान यों सोचने लगा। मैंने यह बुरा काम किया। धर्म का विचार करके वह सिर धुनता। इस समय दीन (धर्म) उद्धार का कोई दूसरा उपाय (पुण्य) नहीं था इस 'दिन' का बदला देने का कोई इससे भला (पुण्य) कार्य नहीं। मैं कीर्तिसिंह को राज्य सौपूँ और उनका सम्मान करूँ। २०।

दोहा—सिंह के समान पराक्रमी, मानधन, वैर का बदला लेने के लिये तत्पर कीर्तिसिंह ने शत्रु-समर्पित राज्य को अंगीकृत नहीं किया।

रड्डा—माता कहती है और गुरु लोग कहते हैं, मंत्री और मित्र सीख देते हैं कभी भी यह कार्य नहीं करना चाहिये। क्रोध से राज्य मत छोड़िये। पिता का वैर चित्त में धारण कीजिये। भाग्य-लेख से राजा गणेश्वर स्वर्ग में इन्द्रसमाज में गये (मृत्यु हुई) तुम्हें शत्रुओं को मित्र बनाकर तिरहुत का राज करना चाहिये।

गद्य—उस बेला में माता, पिता और श्रेष्ठ जनों के बोलने पर, हृदय-गिरि की कन्दरा में सोया हुआ पिता के वैर का सिंह जाग पड़ा। महाराजा कीर्तिसिंह देव क्रुद्ध होकर बोलने लगे। ३०। ऐ लोगों, स्वामी के शोक को सहज भूल जाने वालो, मेरे वचनों पर ध्यान दो। ३२।

दोहा—माता जो कुछ कहती है वह ममता के कारण, मंत्री ने राज-नीति की बात कही। किन्तु मुझे तो एक मात्र वीर पुरुष की रीति ही प्यारी है। मानहीन भोजन करना, शत्रु का दिया हुआ राज्य लेना और शरणागत होकर जीना, ये तीनों कायरों के ही कार्य हैं, जो अपमान में दुःख नहीं मानता, दान और खग का मर्म नहीं समझता, जो परोपकार में धर्म नहीं देखता, वह धन्य है (व्यंग) ऐसे ही लोग निश्चय पूर्वक सोते हैं। शत्रु के पुर पर आक्रमण करके स्वयं दौड़ कर पकड़ूँगा, ज्यादा बोलने से क्या होता है। मेरे भी ज्येष्ठ और गरिष्ठ मंत्रणा-चतुर भाई हैं।

छपद—बाप के वैर का बदला लूँगा और पुनः अपनी प्रतिज्ञा से च्युत न हूँगा, संग्राम में साहस पूर्वक लड़ूँगा पर कभी शरणागत होकर मुक्त न होऊँगा। दान से दारिद्र्य का दलन करूँगा और कभी 'न' अक्षर नहीं उचरूँगा। रणयान में ही राज-पाठ होगा परन्तु नीच शक्ति का प्रदर्शन न करूँगा। अपने

अभिमान को प्राण की तरह रक्खूंगा; पर नीच का कभी साथ नहीं करूँगा, चा राज रहे या जाय। वीर सिंह तुम अपना विचार बताओ। ४८।

रड्डा—दोनों की रायें मिलकर एक हुई। दोनों सहोदर भाई एव साथ चले। वे दोनों सभी गुणों में विलक्षण थे। बलभद्र और कृष्ण चले य पुनः राम और लक्ष्मण कहें, राजपुत्र पैदल चलते हैं, ऐसा भोला है ब्रह्मा इनको देखते हुये किसकी आँखों से लोर नहीं बहते ?

लोगों को छोड़ा, परिवार छोड़ा, राजभोग का परित्याग किया। श्रेष्ठ घोड़े (वाहन) और परिजनों को छोड़ा, जननी के पाँवों को प्रणाम किया जन्मभूमि का मोह छोड़कर चले। नवयौवना पत्नी छोड़ी, सारा धन-वैभव छोड़ा। बादशाह से मिलने के लिये राजा गणेश्वर के पुत्र चले। ५८।

वाली छन्द —दोनो कुमार पांव-पयादे चले। सबने हरि का स्मरण किया। बहुत सी पट्टियाँ और प्रान्तर छूट गए। अन्तर पर ठहरते गये। जह जाते थे, जिस गाँव में सर्वत्र भोगीश राजा का बड़ा नाम था। किसी ने कपड़ दिया, किसी ने घोड़ा। किसी ने रास्ते के लिये थोड़ा सम्बल दिया। कोई कता में आकर साथ हो लिया। कोई सेवक भेंटने लगा। किसी ने उधार ऋण दिया। किसी ने नदी पार कराया। किसी ने बोझ पहुँचाया। किसी ने सीध मार्ग बताया। किसी ने विनय पूर्वक आतिथ्य किया। इसी तरह कितने दिनों पर रास्ता समाप्त हुआ। ७४।

दोहा—लक्ष्मी निश्चय ही उद्योग में बसती है, अवश्य ही साहस से कार्य में सिद्धि मिलती है। विलक्षण पुरुष जहाँ जाता है वहीं उसे समृद्धि की प्राप्ति होती है। उसी क्षण जौनपुर (यवनपुर) नाम का नगर देखा जो लोचनों के लिए प्रिय था और लक्ष्मी का विश्राम-स्थान था।

गीतिका—नीर प्रक्षालित सुन्दर मेखला से विभूषित नगर देखा। नीचे पाषाण की फर्श थी और ऊपर का पानी दीवालों के भीतर से चू जाता था आम और चम्पा से सुशोभित उपवन थे जो पल्लवित थे और फूल-फल से भरे थे। मकरन्द-पान में विमुग्ध भौरों की गुंजार से मन मोहित हो जाता था। वक्रद्वार, साकम (संक्रम, पुल) बाँध, पुष्करिणी और सुन्दर सुन्दर भवन थे। बहुत प्रकार के टेढ़े-मेढ़े रास्तों (विवर्तवर्त्म) में बड़े-बड़े चतुर भी चेतना भूल जाते थे। सोपान, तोरण, यंत्र-जोरण, जाल-युक्त गवाक्ष के खण्ड दिखलाई पड़ते थे। सहस्रों स्वर्ण कलशों से मंडित ध्वजयुक्त धौत शिवालय थे। स्थल-

कमल के पत्ते के समान आखों वाली, मतवाले हाथी की तरह गमनवाली कामिनियाँ चौराहों और रास्तों पर उलट उलट कर साथ चलते लोगों को देखती थीं। कर्पूर, कुंकुम, गन्ध (धूप, इत्यादि) चामर, काजल, कपड़े आदि, वणिक व्यवहार मूल्य पर बेचते थे जिन्हें बर्वर यवन खरीद ले जाते थे। ६० । सामान दान, विवाह, उत्सव, गीत, नाटक और काव्यादि तथा आतिथ्य, विनय, विवेक पूर्ण खेल, तमाशों में लोग समय बिताते थे। घूमते, खेलते, हँसते थे और देखते हुए लोग साथ साथ चलते थे। ऊँचे, ऊँचे हाथियों, घोड़ों की भीड़ से बचकर राह पाना कठिन था। ६४।

गद्य—और भी। उस नगर के परिष्ठव (सौन्दर्य) को देखते हुए, सैकड़ों बाजार-रास्तों से गुजरते, उपनगर और चौराहों में घूमते थे, गोपुर, वक्रहटी, सदर-फाटक, गलियों, अट्टालिकाओं, दूकान की कतारों, रहट, घाट, कोट्टशीर्ष, प्राकार, पुर-विन्यास आदि का वर्णन क्या करूँ, मानो दूसरी अमरावती का अवतार हुआ है। और भी। हाट में प्रथम प्रवेश करने पर, अष्टधातु से (बर्तन) गढ़ने की टंकार, बर्तन बेचने वाले का पसार, कांसे का खरीद-फरोख्त बहुत से नगर जनों के चलने, धनहटा, सोनहटा, पनहटा, पक्वानहाट, मछहटा के आनन्द कलरव को यदि कहूँ तो झूठ होगा, लगता था जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उठ पड़ा है और उसका गम्भीर गुरगुरावर्त कल्लोल कोलाहल कानों में भर रहा है।१०५। मध्य ह्न बेला में भीड़ और सजावट, लगता था जैसे समस्त पृथ्वी-मंडल की वस्तुएं बिकने के लिए आई हों। मनुष्य के धक्के-धुक्के से सिर टकरा जाते थे, एक का टीका ओलग कर दूसरे को लग जाता था। यात्रा (चलने) से दूसरे की स्त्री के हाथ की चूड़ियाँ टूट जाती थीं। ब्राह्मण का यज्ञोपवीत चाण्डाल के अंग से लटक जाता था, वेश्या के पयोधर से टकराकर यति का हृदय चूर-चूर हो जाता था। बहुत से हाथी और घोड़े चलते थे कितने बेचारे घिस जाते थे। आने-जाने से शोर होता था, लगता था कि यह नगर नहीं मनुष्यों का समुद्र है।११२।

छपद—बनिजारा बहुत भाँति बाजार में घूमता था और दूसरे ही क्षण अपनी सभी वस्तुएँ बेच देता था। सभी कुछ न कुछ खरीदते थे। सभी दिशाओं में (सामानों का) फैलाव था। रूपवती, यौवन और चतुर वनियाइनें सैकड़ों सखियों के साथ गलियों को मंडित करती बैठी थीं। संभाषण का कोई न कोई बहाना करके लोग उनसे बातचीत (कहनी) अवश्य करते थे। सुख-पूर्वक, क्रय-विक्रय होता था। दृष्टि-कुतूहल का लाभ ऊपर से मिल जाता था।

सबकी सीधी (दोषरहित) आँखें इन तरुणियों को वक्र मालूम होतीं। चोरी-चोरी प्रेम करने वाली प्रेयसियाँ अपने दोष से ही सशंक रहती हैं। १२०।

रड्डा—बहुत से ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि जातियों के लोग मिले जुले बैठे हुये थे, सभी सज्जन, सभी धनवान। उस नगर का राजा नगर भर में श्रेष्ठ था, जो सब घरों की देहली पर आनन्दित नारियाँ दिखाई देती हैं मानों उस राजा के मुख मंडल को देखकर घर-घर चन्द्रमा उदित हुआ हो।१२५।

गद्य—एक हाट के आरम्भ से दूसरी हाट के अन्त तक। राजमार्ग के पास से चलने पर अनेक वेश्याओं के निवास दिखलाई पड़ते थे, जिनके निर्माण में विश्वकर्मा को भी बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। और भी विचित्रता क्या कहूँ। उनके केश को धूपित करने वाले अगरु के धुयें की रेखा ध्रुवतारा से भी ऊपर जाती है, कोई कोई यह भी शंका करते कि उनके काजर से चाँद कलंकित लगता है। उनकी लज्जा कृतिम होती, तारुण्य भ्रमपूर्ण। धन के लिये प्रेम करतीं, लोभ से विनय और सौभाग्य की कामना करतीं। बिना स्वामी के ही सिन्दूर डालतीं, इनका परिचय कितना अपवित्र है। जहाँ गुणी लोगों को कुछ प्राप्त नहीं होता, वेश्यागामी भुजंगों को गौरव मिलता है, वेश्या के मंदिर में निश्चय ही धूर्त लोगों के रूप में काम निवास करता है।१३५।

गद्य—वे वेश्यायें सुख-पूर्वक मंडन करती हैं, अलकों को सजातीं, तिलक और पत्रावली के खंड लगातीं, दिव्य वस्त्र धारण करतीं, खोल-खोल कर केशपाश बाँधतीं, सखियों से छेड़खानी करतीं, हँसते हुए एक दूसरे को देखतीं, तब उन सयानी, लावण्यमयी, पतली, पात्रोदरी, तरुणी, चंचला, बनी (वनिता) विचक्षणी (चतुरा) परिहास प्रगल्भा, सुन्दरी नायिकाओं को देखकर इच्छा होती है कि तीसरे पुरुषार्थ (काम) के लिए अन्य तीनों छोड़ दिये जायें। १४०। उनके केश में फूल गुंथे होते। ऐसा लगता मानों मानजनित लज्जा के कारण झुके हुए मुखचन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अन्धकार हँस रहा है। नेत्रों के संचार से भौंहें तिर्यक हो जातीं मानों कज्जल-जला सरिता की लहरों में बड़ी-बड़ी मछलियाँ (हों) सिन्दूर की अतिसूक्ष्म रेखा पाप (वेश्या जीवन) की निन्दा करती थी। यह रेखा मानो कामदेव के प्रताप का प्रथम चिन्ह है। दोषहीन, क्षीण कटि वाली, मानो रसिकों ने जूआ में जीत कर प्राप्त किया है। पयोधर के भार से भागना चाहती है नेत्र के तीसरे (श्याम, श्वेत, रक्त) भाग से वह संसार को अनुशासित करती है। सस्वर बाजे बजते हैं,

यह सब राजों को शोभा देने योग्य है। कोई ऐसा भो आशा करता है कि किसी तरह आँचल की हवा लग जाती। उनकी तिर्यक कटाक्ष छटा कामदेव की वाण-पंक्ति की तरह सभी नागरों के मन में गड़ जाती। बैल कह कर गँवारों को छोड़ देतीं। १५१।

दोहा—सभी नारियाँ चतुरा थीं। सभी लोग सम्पन्न थे। श्री इब्राहीम-शाह के गुणों के कारण किसी को शोक था न चिन्ता।

यह सब कुछ देखकर आखों को सुख मिलता। सर्वत्र सुस्थान और सुभोजन प्राप्त होता। एक क्षण ध्यान देकर, हे विचक्षण, सुनो। अब मैं तुर्कों का लक्षण बोलता हूँ।

भुजंगप्रपात—इसके बाद वे दोनों कुमार बाजार में प्रविष्ट हुए जहाँ लाखों घोड़े और हजारों हाथी थे। कहीं बहुत से गन्दे लोग, कहीं बांदा-बन्दे। कहीं किसी हिन्दू को दूर से ही निकाल देते थे। कहीं तश्तरी कूजे तवेल्ले (अस्तबल) फैले थे, कहीं तीर-कमान के दूकानदार थे। सड़कों के दोनों बाजू सराफों से भरे हुए थे। कहीं हल्दी, लशुन और प्याज तौल रहे थे। बहुत से गुलाम (भृत्य) खरीद रहे थे। तुर्कों में बराबर सलाम बन्दगी हो रही थी। कहीं बटुये (दस्ताने) पैजार (जूते) मोज़ा आदि क्रय हो रहे थे, मीर, वली, सालार ख्वाजे घूमते थे। अबे-बे कहते हुए शराब पीते थे। कोई कलमा कहते, कोई कलीमा पढ़ते, कोई कसीदे काढ़ते, कोई मसीद भरते, कोई किताब (धार्मिक) पढ़ते, इस तरह अनन्त तुरुक दिखाई पड़ते थे।१७३।

छपद—तुर्क अति आग्रह से खुदा का स्मरण करके भांग का गुंडा खा जाता है, बिना कारण के क्रुद्ध हो जाता है उस समय उसका बदन तप्त ताम्र-कुन्ड की तरह दिखाई पड़ता है। तुर्क घोड़े पर चढ़ कर चला, वह बाजार में घूम घूम कर गोस्त (हंडा) मांगता है। क्रुद्ध होने पर तिरछी दृष्टि से देख कर दौड़ता है तब उसकी दाढ़ी से थूक बहने लगता है। सर्वस्व शराब में बर्बाद करके गरम कबाव-दरम खाता है। पीछे पोछे प्यादा लेकर घूमता रहता है। उसकी बेवकूफी के तरीके पर और क्या कहूँ।१७६।

यवन भांग खाकर और मांगता है। खान क्रुद्ध होता है। नमिरा सालरा चिल्लाता रहता है जैसे दौड़ कर प्राण चीर कर रख देगा। पहला ग्रास खाता है और वह जब मुंह के भीतर जाता है तो एक क्षण चुप रहता फिर तुरन्त गाली देता है या पहला ग्रास खाने के बाद मुंह में गडुवे से पानी गार (डाल) देता

है। तीर उठाकर उस ओर देखता है। मुक़द्दम (मुखिया) बाहें पकड़ कर उसे बिठाता है। चाहे कपूर के समान भोजन लाकर रखा जाय, वह प्याज ही चिल्लाता है। १८५।

गीत गाने म श्रेष्ठ जाखरी (नट्टिनी) मस्त होकर 'मतरुफ' (प्रशस्ति) गाती है, तुर्किनी चरख (चक्कर देकर) नाच नाचती है और कुछ किसी को अच्छा भी नहीं लगता। सय्यद, स्वैरिणी (कुचरित्र), वली (फकीर) सब एक दूसरे का जूठ खाते हैं। दरवेश (साधु) दुआ (आशीर्वाद) देता है किन्तु जब भिक्षा नहीं पाता तब गाली देकर चला जाता है। मखदूम (मालिक ?) दशों तरफ़ डोम की तरह हाथ फैलाता है! खुन्दकारी (काज़ी) का हुक्म क्या कहें ! अपनी भी औरत पराई हो जाती है। हिन्दू और तुर्कों के साथ-साथ रहने से, एक से दूसरे धर्म का उपहास होता है। कहीं बाँग (अजान) होती है, कहीं वेद पाठ हो रहा है। कहीं विसम्मिल्लाह (श्रीगणेश) होता है। कहीं छेद (कर्णभेद)। कहीं ओझा, कहीं ख्वाजा (ऊंचा फकीर) कहीं नक्षत्र (व्रत, उपवास) कहीं रोजा। कहीं ताम्रपात्र (आचमनी) कहीं कूज़ा (प्याला या मिट्टी का बर्तन) कहीं नमाज कहीं पूजा। कहीं तुर्क बलपूर्वक राह चलतों को बेगार करने के लिए पकड़ लाता है। ब्राह्मण बटुक को पकड़ कर लाता है और उसके माथे पर गाय का 'शुरुआ' रख देता है। तिलक पोंछ कर जनेऊ तोड़ देता है। ऊपर घोड़ा चढ़ाना चाहता है। धोये हुए उरिधान (नीवार) से मदिरा बनाता है। देव-कुल (मंदिर) तोड़कर मस्जिद बनाते हैं। गोर (कब्र) और गोमर (कसाइयों) से पृथ्वी भर गई है। पैर रखने की भी जगह नहीं। हिन्दू कह कर दूर से ही निकाल देते हैं, छोटे तुर्क भी भभकी (बन्दर घुड़की) दिखाते हैं।२११।

दोहा—तुर्कों को देखकर ऐसा लगता था जैसे ये हिन्दुओं को पूरा का पूरा निगल लेंगे। सुल्तान के प्रताप में ऐसा भी होता था; फिर भी सुल्तान चिरंजीवी रहें। हाट-हाट में घूमते हुए दोनों राजकुमारों ने दृष्टि के कौतूहल के कारण तथा प्रयोजन से दर्बार में प्रवेश किया। २१५।

पद्मावती छन्द—लोगों की भीड़ से, बहुत से लोगों के घूमने से आकाश मण्डल भर गया। तुर्क, खान, मलिक आ रहे हैं। उनके पैरों के भार से पत्थर चूर्ण हो जाते थे। दूर-दूर से आये हुए राजा लोग दौड़कर द्वार पर चलते थे। फिर छाया में बैठने के लिए बाहर आ जाते थे। गुलामों की तो कोई गिनती ही नहीं। आये हुये राजे सैयदों के घरों के पास निराश खड़े रहते। दरबार में बैठे, दिवस बीत जाते, पर सालों दर्शन न हो पाते। उत्तम परिवार के उमरा दर्बार को

मजे से (अच्छी तरह) जानते हैं (या दर्बार के मज़े जानते हैं) सुल्तान को सलाम करते समय इनाम पाते, अपने से आते जाते। सागर और पर्वत के पार से, दीप—दीपान्तर से जिसके दर्शन के निमित्त आये थे, उसी के द्वार पर राजपुत्र, राणा आदि इकट्ठे खड़े थे। यहाँ पर खड़े होकर गिनते हुए और शाह की विरुद का उच्चारण करते हुए मनुष्यों की क्या गणना थी ? तैलंग, बंगाली, चोल और कलिंग देशीय राजपुत्रों से शोभा बढ़ रही थी। वे अपनी अपनी भाषायें बोलते, भय से कंपित रहते और (जय बीर जय पंडित कहते ?) सुन्दर-सुन्दर राजकुमार इधर उधर बहुत देर तक चलते रहते। संग्राम में भव्य मानो गन्धर्व हों। वे अपने रूप से सबका मन मोह लेते। २३१।

छपद—वह दरबार खास सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल के ऊपर था। वहाँ रंक भी अपना व्यवहार (हक़) राजाओं को दबाकर पाता था। वहाँ शत्रु मित्र सभी का सिर झुकता था वहाँ कल्याण और प्रसाद था, वहाँ संसार का भय भग जाता था। वहाँ जाने पर हर कोई अपने भाग्य अभाग्य के भेद को जान लेता था। यह बादशाह सम्पूर्ण संसार से ऊपर था, उसके ऊपर केवल भगवान ही थे।२३७।

गद्य—अहो अहो आश्चर्य। उस घेरे (corridor) के अन्दर दीवाल और दरवान की जगह है, दरबार के बीच में सदर दरवाजा, दरगाह, कचहरी, नमाज-गृह, भोजन-गृह और शयन-गृह के विचित्र चमत्कार देखते हुए सभी कहते कि बहुत अच्छा है। जैसे आजतक विश्वकर्मा इसी कार्य में लगे रहे। इन प्रासादों के व्रजमणि से बने हुए सुनहले कलश सुशोभित हो रहे थे। जिनके ऊपर सूर्य के रथ को वहन करने वाले अठाइसों घोड़ों की टापें बजती थी। प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिमनदी, क्रीड़ा शैल, धारागृह, यन्त्रव्यजन, शृंगार संकेत, माधवी-मंडप, विश्राम-चौरा चित्रशाली खट्वा, हिंडोल-कुसुम-शय्या, प्रदीप माणिक्य, चन्द्रकान्त शिला और चौकोर तालाब का हाल सयानों से पूछते, वैसे भीतर की बात कौन जानता था। इस तरह घेरे से दूर आकर, मुहूर्त भर विश्राम करके, शिष्टजनों तथा भृत्यों का सम्मान करके, गुण से सब लोगों को प्रसन्न करके महल के रहस्यों को जान लिया।

दोहा—गुणी और चतुर लोगों से पूछा, फिर आशा पल्लवित हुई उस दिन सायंकाल के पहले, एक ब्राह्मण के घर पर निवास किया।२५३।

श्लोक—(सन्ध्या समय) कष्ट प्राप्त, विपत्तियों की स्त्रियों के मलिन मुख की आभा वाले कमलों को (फिर से मुकुलित करके) बद्ध हाथों से उन्हें भक्तिपूर्वक सूर्य को अर्पित करके तथा द्वार पर आये हुये अकृतार्थ ब्राह्मणों को

बड़ी-बड़ी भिक्षायें देकर, सन्ध्या को असन्ध्या करते हुये राजा कीर्तिसिंह पृथ्वी की चिर-काल तक रक्षा करें।

विद्यापति ठाकुर कृत कीर्तिलता का दूसरा पल्लव समाप्त हुआ।

तीसरा पल्लव

भृंगी फिर पूछती है।

हे कान्त, तुम्हारे कहने से कर्ण में अमृतरस प्रविष्ठ हुआ। इसलिए हे विचक्षण, फिर कहो, अगला वृतान्त शुरू करो।

रड्डा—रात बीती, प्रत्यूष हुआ। सूर्य ने अन्धकार का नाश किया। कमलवन विहँस पड़े। नींद ने नेत्र छोड़े। राजा ने उठकर मुँह धोया। फिर जाकर वज़ीर की आराधना की और अपना सब कार्य कह सुनाया। जब प्रभु बहुत प्रसन्न हों तभी राज्य स्थापित हो सकता है। तभी मंत्रियों ने प्रस्ताव किया। बादशाह के दर्शन हुए। शुभ मुहूर्त में सुखपूर्वक राजा से भेंट हुई। घोड़े और वस्त्र भेंट की। हृदय का दुःख और विरक्ति मिटी। खुदावन्द प्रसन्न हुए। कुशल की वार्ता पूछी। बार बार प्रणाम करके कीर्ति सिंह ने बात कही। आज उत्सव (खुशी का दिन) आज कल्याण। आज वह शुभ दिन और मुहूर्त आया। आज मेरी माँ का पुत्रत्व सफल हुआ। आज पुण्य और पुरुषार्थ (उदित हुए) कि बादशाह के चरणों के दर्शन हुए। किन्तु, दो के लिए अकुशल की बातें हैं, पहला तो तुम्हारा प्रताप (नीचे पड़ा) अश्रेष्ठ हुआ, दूसरे मेरे पिता गणेश्वर राय स्वर्ग गए।

बादशाह ने पूछा किसने तिरहुत लिया?

जो आपके डर से बात बनाकर कहानी कहता है, वही असलान। पहले तो आपके फरमान की अवहेलना की, फिर गणेश्वर राजा का वध किया। उसी शेर ने बिहार पर कब्ज़ा किया है। उसके चलने से चामर डोलते हैं। शिर पर छत्र रखकर वह तिरहुत से कर उगाहता है। इस पर भी आपको यदि रोष न हो कि असलान राज्य कर रहा है तो तुरन्त अपने अभिमान का तिलाञ्जलि दान कर दीजिए। दो राजाओं की एक पृथ्वी और दो पुरुषों की एक नारी, दोनों का भार नहीं सह सकतीं, अवश्य युद्ध कराती हैं। २८।

रड्डा—भुवन में आपका प्रताप जाग्रत है। आपने खग से शत्रु का दलन किया। आपकी सेवा करने सभी राजे आते हैं। आपने दान से पृथ्वी भर दिया, आपकी कीर्ति सब लोग गाते हैं। यदि आपही शत्रु के नाम से असहना (रुष्ट)

न होंगे तो दूसरे बेचारे क्या कर सकते हैं। आप तो वीरत्व के स्थान हैं। यह सुनकर सुलतान को क्रोध हुआ। दोनों भुजायें रोमांचित हो उठीं। दोनों भौहों में गाठें पड़ गई। अधर-विम्ब प्रस्फुटित हुए। नयनों ने रक्त कमल की शोभा धारण की। ख़ान, उमरा, सबको उसी क्षण आज्ञा हुई अपनी अपनी तैयारी पूरी करो, आज तिरहुत पयान होगा। ३८।

छपद—सुलतान गरम हुए। दरबार में शोर मच गया। लोग बाग चल पड़े, पद भार से पृथ्वी धँसने लगी, संसार जलने लगा, सबके मन में सर्वत्र शंका फैल गई। बड़ी दूर है, बड़ा कोलाहल ? जैसे आज ही लंका उजड़ गई हो। दीवान, अवदगर (सजा देने वाला) गहवर ? तथा कोरबेग़ (अस्त्रशस्त्रों के निशाने के अधिकारी) सब अदब के साथ बैठे हुए थे जैसे हुक्म मिलते ही असलान को पकड़कर ला देंगे।

रड्डा—वे दोनों भाई बहुत आनन्दित हुए। राजश्रेष्ठ कीर्ति सिंह बादशाह की कृपा (प्रसाद) लेकर बाहर आए। इसी बीच सुलतान की कुछ विचित्र बात सुन पड़ी। पूर्व के लिए सेना सजी थी, किन्तु पश्चिम को प्रयाण हुआ। करने कुछ गए थे, और हुआ कुछ और। विधि के चरित्र को कौन जानता है ? ३६।

उस समय राजा कीर्तिसिंह सोचने लगे, सब में मेरी लाज हुई। फिर भी परिश्रम से सिद्धि मिलेगी, समय पर काम पूरा होगा ।५१।

गद्य—उस समय राजाओं के चिन्तावनत मुख को देखकर युवराज श्रीमद्वीर सिंह का मन्त्री बोला, गुणियों को इस तरह के उपताप की परवा नहीं करनी चाहिए।

रड्डा—दुःख से राजाओं के घर के कार्य सिद्ध होते हैं, इसलिए उद्वेग नहीं करना चाहिए। सुहृद-जनों से पूछकर शंका मिटानी चाहिए। फल तो देवायत्त है, पुरुष का कार्य साहस करना है वही करिए। यदि साहस करने से भी सिद्धि न मिले तो झंखने (चिन्ता) से क्या होता है। जो होना है होगा, पर, वीर-पुरुष के लिए एक उत्साह (रह जाता) है। वह राजा (बादशाह) विचक्षण है, तुम भी गुणवान हो, वह धर्म-परायण है, तुम शुद्ध हो। वह दयावान है, तुम राज-खण्डित हो, वह विजयेच्छु है तुम शूर-वीर हो, वह राजा है तुम राज पंडित (ब्राह्मण) हो, वह पृथ्वीपति सुलतान है और तुम राजकुमार, यदि एक चित्त से सेवा की जायेगी तो कोई न कोई उपाय अवश्य ही निकलेगा।

दोहा—इसके बाद शोर हुआ। सेना की संख्या कौन जाने। ज्यों ही सुलतान का तख्त चला पृथ्वी नलिन-पत्र की तरह कंपित हुई।८८।

निशिपाल-छन्द—सुलतान इब्राहिम का तख्त चला। धरणि ने कूर्म से कहा, हे कूर्म सुन, मुझमें अब धारण का बल नहीं है। पर्वत चलाय-मान हुए, पृथ्वी गिरने (धँसने) लगी। शेष-नाग का हृदय काँप उठा। सूर्य का रथ आकाश-मार्ग में धूल से छिप गया। सैंकड़ों नगाड़े बज उठे, कितनी ही भेरियों से फू-फू की ध्वनि हुई। प्रलय के बादल गर्जने लगे, इसमें युद्ध का शोर छिप गया। किस प्रकार तुर्क हर्ष से हँसते हुए घोड़ों को गिरा देते थे। मानधनी वीर करवाल से मारकर, काटकर, कट जाते थे। जिस समय घोड़े चले, हाथी गिरने लगे, पदातिक भूमि पर बिछ गए, शत्रुओं के घरों में भय उत्पन्न हो जाता और उन्हें चिन्ता के मारे नींद नहीं आती। खंग लेकर, गर्व करके, जब तुर्क युद्ध करने लगता, तो सम्पूर्ण सुर-नगर भय के मारे मूर्छित हो जाता। पदातिक-सेना ने पैरों से ही सुखाकर जल को थल कर दिया। वह जानकर सम्पूर्ण संसार को आश्चर्य हुआ। किसी ने शत्रुओं को बाँधकर सुलतान के पैरों में गिरा दिया। फिर, किसी ने झुकाकर उन्हें उठाकर खड़ा कर दिया। चतुर्दिश द्वीप दिगन्तर में बादशाह दिग्विजय करते हुए घूमता रहा। वे दुर्गम स्थानों का अवगाहन करते, कर उगाहते। दोनों राजकुमार भी उसके साथ थे।८४।

छपद—विदेश पर अधिकार किया। भारी भारी पहाड़ों और नगरों को जला दिया। सागर की सीमा पार की, पार जाकर पार के लोगों को मारा। सब जगह शत्रुओं को दंड तेते थे। घोड़े लेकर रास्तों पर दौड़ते थे। एक स्थान पर उतरते थे और दस स्थानों पर धावा मारते थे। इब्राहिम शाह के युद्ध-प्रभाव को पृथ्वी का कौन नरेश सह सकता है। पर्वत और समुद्र लाँघने पर भी उबार होना कठिन था, केवल प्रजा बनने पर ही प्राण बच सकता था।६०।

वालि छन्द—प्रजा बनकर जहाँ चाहे जाइये। एक भी शठ आपको छू नहीं सकता। छोटे से कार्य के लिए भी बड़ी सहायता, (आफत ?) चटपट सेना आ पहुँचती। चोर नायक के हाथों घुमाया जाता था, वह दूसरे के माथे की दुहाई (आपके सर की कसम) कहता था। सेर भर पानी खरीद कर लाइए, पीते समय कपड़े से छानिए। पान के लिए सोने का टंक दीजिए। इन्धन चन्दन के भाव बिकता। बहुत कौड़ी (पैसा) देने पर थोड़ा कनिक (अन्न) मिलता। घी के लिए

घोड़ा बेचना पड़ता। कड़वा का तेल शरीर में लगाइए, बांदी तो दूर, दासों तक को छिपाकर रखिए। १०४।

रड्डा—इस तरह (दोनों भाई) द्वीप दिगन्तर में घूमते रहे। युद्ध में साहस का कार्य किया। बहुत से स्थानों पर केवल फूल-फल खाया। तुर्कों के साथ चलते समय बड़े कष्ट से अपने आचार की रक्षा की। राह के लिए पाथेय नहीं, शरीर कृश हो गया, वस्त्र पुराने हो गए। यवन स्वभाव से ही निष्करुण होते हैं। सुलतान ने स्मरण भी नहीं किया। १०९।

धन के बिना कोई भी काम संभव नहीं। विदेश में ऋण भी नहीं मिलता। मानधनी को भीख माँगना भी पसन्द नहीं, राजा घर में जन्म हुआ, दीन-वचन मुख से निकल नहीं सकता, स्वामी की सेवा निःशंक होकर करते रहे; पर दैव आशा पूरी नहीं करता। अहह, महान पुरुष क्या करें, गंडों में या गिन गिन कर उपवास करने लगे। ११४।

प्रिय की चिन्ता नहीं, धन नहीं, मित्र नहीं, जो भोजन दे, भूख से भागकर भृत्यों ने साथ छोड़ दिए। घोड़ों को घास नहीं मिलती, दिन दिन दुःख बढ़ता ही जाता है, फिर भी, एक श्री केशव कायस्थ और सोमेश्वर के साथ नहीं छोड़ा। दुरवस्था सहकर बने रहे। ११९।

वही वणिक चतुर है जो धर्म का व्यवसाय करता है! भृत्य और मित्र रूपी कंचन के लिए विपत्तिकाल ही कसौटी है।

गद्य—परम कष्ट की उस अवस्था में भी दो भाइयों के समाज में चित्त में धारण की हुई लज्जा और आचार की रक्षा, गुणों की परीक्षा, हरिश्चन्द्र की कथा, नल की बात, रामचन्द्र की रीति, दान-प्रीति, पाणि-ग्रहण का निर्वाह, साहस उत्साह, अकरणीय के करने में बाधा, बलि, कर्ण, दधीचि से स्पर्धा होती थी। १२६।

दोहा—उस समय राजा कीर्तिसिंह एक ही बात सोचते थे, हम लोगों का इतना दुःख सुनकर मेरी माता कैसे जीयेगी। यद्यपि वहाँ पर चतुर विचक्षण मंत्री है जो तिरहुत के लिए स्तम्भ स्वरूप है, जिसके साथ मेरी माँ ने मेरा हाथ बाँध दिया है!

छन्द—वहाँ मंत्री आनन्द खान है, जो सन्धि और विग्रह-भेद जानते हैं। सुपवित्र मित्र श्री हंसराज हैं जो अपना सर्वस्व हम लोगों के लिए उपेक्षित करते हैं। हमारे सहोदर रामसिंह हैं जो संग्राम में रुष्ट सिंह की तरह पराक्रमी हैं। गुणश्रेष्ठ मंत्री गोविन्द दत्त हैं जिनके वंश की कितनी बड़ाई करूँ। शंकर

के भक्त हरदत्त हैं जो संग्राम-कर्म में अर्जुन के समान हैं। हरिहर धर्माधिकारी हैं जिसके प्रण से तीनों लोक में चारो पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। नीति मार्ग में चतुर मरेश ओझा हैं जिनको प्रणाम करने से निश्चय ही क्लेश दूर होता है। रावत न्यायसिंह सुजान भी हैं जो संग्राम में अर्जुन के समान पराक्रमी हैं।

इन लोगों के प्रबोधन से निश्चय ही मेरी माँ शोक न करेगी। उसके घर विपत्ति नहीं आती जिससे लोग अनुराग रखते हैं। सुल्तान पर जोर देकर कहूँ कि चट कोई उपाय करें। बिना कहे ही यदि मन में बात आती तो अब तक यह क्यों सहते रहते। १५०।

रड्डा—जिन्होंने संग्राम में साहस करके धावा मारा, जिन्होंने अग्नि में धँसकर सिंह के केश को पकड़ा, जिन्होंने सर्पफण को पकड़ लिया, जिन्होंने क्रुद्ध यमराज का सामना किया, उन दोनों भाइयों को सुलतान ने देखा। जब तक मान नहीं होता जीवन में नेह नहीं रहता। अच्छा समय फिर लौटा। विधि प्रसन्न हुए। फिर दुःख दारिद्र्य खण्डित हुए। साहस-कर्म फलित हुए। फरमान जारी हुआ। पृथ्वी पर उसके लिए अशक्य क्या है, जिस पर सुलतान प्रसन्न हों।

प्रभु यदि अपने पक्ष का पालन न करें, राजा अंग की रक्षा न करे, सज्जन सत्य न बोलें, तो फिर धर्म मति कहाँ जाए। १६२।

श्लोक—राजा कीर्तिसिंह की जय हः। जिन्होंने बल से संग्राम में शत्रुओं के दर्प को नष्ट किया। उनका अमित यश कुमुद, कुन्द और चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल है, उनकी श्री तुरंग रूपी रंगस्थल पर दो चामरों से अलंकृत है, जिनके सभी साहस-कार्य सफल हुए।

ठाकुर विद्यापति की कीर्तिलता का तीसरा पल्लव समाप्त।

चतुर्थ पल्लव

भृङ्गी फिर पूछती है।

कहो कान्त कहो, सच कहो, सेना किस प्रकार चली। कैसे तिरहुत पवित्र हुई और असलान ने क्या किया।३।

प्रेयसि मैं कीर्तिसिंह के गुण कहता हूँ, कान लगाकर सुनो। उन्होंने बिना जन, बिना धन, और बिना किसी कठिनाई के सुलतान को चला दिया।५। दोनों कुमार श्रेष्ठ हैं, मलिक असलान भी श्रेष्ठ है जिनके लिए सुलतान चले आए।

गद्य—सुल्तान के फरमान से सारी राह में शोर मच गया। लक्षावधि

पैदल सेना के शब्द बज उठे। शत्रु का अन्तिम समय आ पहुँचा। सेना में बाजे बजने लगे। हाथी घोड़ों और पदातिकों की भीड़ हुई।

साजो, साजो का शोर हुआ।

मनोहर राजा ने सेना को तिरहुति की ओर चलाया। पहले हाथी तैयार हुए, फिर घोड़े सजने लगे। पैदल सेना के चक्र कौन गिने। चतुरंगिणी सेना चली।

मधुभार छन्द—मदमत्त हाथी निरन्तर चले जाते हैं। गाछ (वृक्ष) तोड़ते हैं, एक तरफ झुके पड़ते हैं, चिग्घाड़ उठते हैं। घोड़ों को मारते हैं, संग्राम में तेग के समान भूमि पर स्थिति मेघ की तरह, लगता था अन्धकार के शिखर हैं। जो दिग्विजय के लिए छुटे हैं। जैसे गर्व सशरीर उपस्थित हों, देखने में भव्य। कान हिलाते थे। लगता था जैसे पर्वत खड़ा हो।२२।

गद्य—इनके भारी भारी मुण्ड हैं। दस गुने आदमियों के मुण्ड को मार कर क्या इन्हें विधाता ने विन्ध्याचल से निकाला है? क्या अगस्त ऋषि की आज्ञा का अतिक्रमण कर पर्वत बढ़ आया। दौड़ता है, खोदता है, जान पड़ता है महावत के अंकुश से भी कठिनाई से मानता है।२६।

दोहा—पैदल सेना के पद भार से (ध्वनि) हुई। घोड़ों पर ज़ीन कसी गई थनवार (स्थान-पाल) की थपथपाहट से घोड़ों को रोमांच हो आया।

णाराज—बहुत से ताज़ी घोड़े सज़ाकर लाए गए। पराक्रम में जिनका नाम संसार विदित था। विशाल कंधे, सुन्दर गठन, वे शक्तिस्वरूप और शोभन थे। तड़प कर हाथी को लाँघ जाते। शत्रु सेना को क्षुब्ध कर देते। सामर्थ्य वाले, वीर, शक्ति से भरे हुए, वे चारों पैरों से चक्कर काटते थे। संग्राम में स्वामी के कार्य के लिए वे युद्ध के अनन्त रहस्यों को जानते थे। अच्छी नस्ल के, शुद्ध (दोष हीन) क्रोध से क्रुद्ध, गर्दन तोड़ मोड़कर दौड़ते थे। शुद्ध दर्प से टाप मारते थे। जिससे बसुन्धरा चूर-चूर हो जाती थी। शत्रुओं को देखकर वे बंधन में होने पर भी हिनहिनाते थे। निशान के शब्द, मेरी के साथ सुनकर वे सूम से पृथ्वी खोदने लगते। तर्जन से भीत, वायु को जीतने वाले, चामर से मंडित चित्रविचित्र नाच-करते थे, और राग वाग के पंडित (जानकार) थे।

और भी चुने हुए तेज़ी ताज़ी घोड़े, जीन से सजाकर, लाखों की (संख्या) में लाए गए, जिनके मूल्य के सामने मेरु (स्वर्ण-गिरि) भी कम हो जाए।४४।

गद्य—बाँके बाँके मुँह, चंचल (कांच की तरह चमकदार) आँखें, पुष्ट गठन, तीक्ष्ण कंधा। जिनकी पीठ पर अहंकार चढ़कर पुकारने लगता।

पर्वत को भी लाँघकर उस पार के शत्रु को मारते। शत्रु की पूरी सेना रूपी कीर्ति-कल्लोलिनी को लाँघकर पार हुए, उसी के जल-सम्पर्क से चारों पाँव श्वेत हैं (धुले हैं)। मुरली मनोरी, कुण्डली, मण्डली प्रभृति नाना गतियों को दिखाते हुए ऐसा भासित होता जैसे इनके चरणों में पवन देवता निवास करते हैं। मुँह पर पद्म के आकार का वस्त्र भूलता था जैसे स्वामी के यशश्चन्दन का तिलक इनके ललाट पर लगा हो।५२।

छपद्—वे घोड़े, तरवार की तरह तेजवन्त, तरुण, क्रोध से भरे हुए थे। सिन्धु नदी के पार उत्पन्न हुए, मानो सूर्य के रथ से छुड़ा लाए गए हों। गमन में पवन को भी पीछे कर दें, वेग में मन को भी जीत जायें। दौड़ धूप करके (शत्रुओं के बीच) धँस जाते थे, जैसे वज्र भूमि पाकर गर्जन करता है। संग्राम भूमि पर संचरण करते और शत्रुओं को नाना नाच नचाते। शत्रुराजों की लक्ष्मी छोड़ (छीन) लेते, असवार की आशा पूरी करते।

रड्डा - तब घोड़े पर चढ़कर सुलतान चले। ध्वज, चामर विस्तृत (फैले) हुए। उनका घोड़ा कितनों में चुनकर आया था। जिसके श्रेष्ठ पौरुष को देश विदेश के राजघराने जानते थे। इसके बाद दोनों भाइयों ने भी घोड़े लिए। सब लोग पास आकर उन घोड़ों की प्रशंसा करते। शत्रु उन्हें दूर से ही देखकर भाग जाते।

छपद्—तेज़ी ताज़ी जाति के वे घोड़े चारों दिशाओं में शीघ्रता से छूटे। तरुण तुर्क असवारों के चाबुक बाँस फूटने की तरह आवाज़ करते। मोजे से मोजा जोर कर तीर भरकर तर्कश बाँध लेते। सींगिनि में बारूद भरते, गुरुदर्प और गर्व के साथ। अनवरत सेना चली। उसकी गणना कौन कर सकता है। पदभार से कोल (महाबाराह) भ्रमित हुए। कूर्म उलट करके करवट बदलने लगा।६६।

अरल्लि—करोड़ों धनुर्धर पैदल दौड़ रहे थे। लाखों की संख्या में ढालवाहक चलते। खंग लिए हुए सैनिक एक ओर से चले। खंग की धार से चमक होती। मतवाले मंगोल बोल नहीं समझते। खुन्दकार (स्वामी) के लिए रण में जूझ जाते। कभी कच्चे मांस का भोजन करते। मदिरा से आँखें लाल हो जाती। आधे दिन में बीस योजन दौड़ जाते, बगल में रखी रोटी पर दिन काट देते। बलक से काटकर कमान को ठीक कर लेते। पहाड़ पर भी घोड़े से दौड़ते रहते। गाय और ब्राह्मण की हत्या में कोई दोष नहीं मानते। शत्रु नगर की नारियों को वन्द (वन्दी) करके ले आते। जैसे हर्ष से कबन्ध (कटी लाश)

हँस पड़े वैसे ही तरुण तुर्क सहसा बातचीत में हँस देता। और न जाने कितने जंगली सेना में जाते दिखाई पड़ते, गोरू मारकर बिसमिल्ला करके खा जाते।८७।

दोहा—उस बड़ी सेना में न जाने कितने धाँगड़ (जंगली) थे जो जिस दिशा में धावा (धाड़) मारते उस दिशा में राजाओं के घर की औरतें बाज़ार में बिकने लगतीं।

मारणवहूला छन्द—एक ही शवर कितनों के ऊपर होता। सिर उसका चिथड़े-कुथड़े से ढका रहता। दूर दुर्गम जाकर आग से (गाँव-नगर) जलाते थे। औरतों को छोड़कर (व्याहते) बच्चों को मारते थे। लूट से उनका अर्जन होता, पेट में व्यय। अन्याय से वृद्धि होती युद्ध से क्षय। न तो गरीब के प्रति दया दिखाते न शक्तिमान से भय। न तो उनके पास रास्ते के लिये कोई सम्बल था न तो उनके घर कोई व्याहता थी। न तो पाप का दुष्फल, न तो कोई पुण्य का कार्य; न तो शत्रु की शंका, न तो मित्र की लज्जा। उनके पचन स्थिर (संयमित) नहीं सज्जन का साथ नहीं। किसी प्रिय से प्रेम नहीं, युद्ध से भागते भी नहीं। इस तरह की सेना में ऐसे बहुत से लोग चले जा रहे थे जिनका भोजन भक्षण कभी न रुकता और वे चलने में थकते भी नहीं।१०५।

उसके पीछे हिन्दुओं की सेना आ रही थी। राजा लोगों की कोई गिनती न थी, राउतों की बात ही क्या!

पुमानरी छन्द—दिगन्तर के राजे जो सेवा करने आये थे, वे फौज के साथ चल रहे थे। अपने धन के गर्व और युद्ध-कौशल के कारण वे पृथ्वी में समाते न थे। बहुत से राजपूतों के चलने के पद भार से मेदनी काँप रही थी। योजन पर्यन्त दौड़ते जाते घोड़े नचाते, कर्कश आवाज में बातें करते। लाल, पीले, श्यामल, चँवर थे और उनके कानों में कुण्डल हिल रहे थे। आते जाते पद परिवर्तन करने से लगता जैसे युग-परिवर्तन हो रहा है (प्रलय)। बहुत से नगाड़ों की आवाज के कारण कुछ सुनाई नहीं पड़ता, इशारों से बात करते थे। खच्चर, गदहों, लाखों बैलों और करोड़ों भैसों का क्या अन्त था। असवारों के चलने से, पद-प्रहार से, पृथ्वी छोटी होती जा रही थी। जो पीछे रह गए वे लड़खड़ा कर गिर गए, स्थान स्थान पर बैठते चलते थे। गोधन और कोई खाने वाली वस्तु नहीं मिलती, गुलाम भूखे हुए दौड़ रहे थे। तुर्कों की फौज के हौदों से चारों दिशाओं की पृथ्वी ढँक गई। तुर्कों की फौजों को आगे करके आपस कलह करते हुए हिन्दू चलते थे।

छपद्—जिस समय सुलतान चले, उस समय का वर्णन कौन करे या उस समय की गणना कौन बताए। सूर्य ने अपना प्रकाश संवृत कर लिया। आठों दिग्पालों को कष्ट हुआ। धरणी पर धूल से अन्धकार छा गया। प्रेयसि ने प्रिय को देखना छोड़ दिया। इन्द्र और चन्द्र को चिन्ता हुई कि यह समय कैसे कटेगा। जंगल दुर्ग को दलने तहस नहस करके पद भार से पृथ्वी को खोद दिया। हरि और शंकर का शरीर एक में मिल गया। ब्रह्मा का हृदय डर से डगडमा उठा।

भैंसा क्रोध करके उठा और उसने दौड़कर असवार को मार दिया। हरिण ने हार कर गति छोड़ दी, पैदल भी उसे हाथ से पकड़ सकता था। खरगोश और मूसक तरस रहे थे कि पक्षी कितने अच्छे हैं कि आकाश में चले जाते हैं। किन्तु नीचे यदि ये पाँव से दलित हो जाते तो ऊपर उन्हें बाज़ खेद कर खा जाता। इब्राहिमशाह के प्रयाण के समय जिधर से सेना चलती सबको खनकर, खेदकर, खोदकर मार डालती। कोई जीव जन्तु नहीं बच पाता था।१३५।

गद्य—इस तरह दीप-दीपान्तर के राजाओं की निन्द्रा का हरण करते हुए, दलों को (सैन्यदलों को) चूर्ण करके चौपट करते हुए, पहाड़ों और गुफाओं को ढूढ़ते हुए, शिकार खेलते हुए, तीरन्दाजी करते हुए वन विहार और जल-क्रीड़ा करते हुए, मधुपान और रत्योत्सव की रीतियों का पालन करके राज्य सुखों का अनुभव करते हुए, शत्रु के दर्प को भंग करते हुए, रास्ता पार करके, तिरहुत में प्रविष्ट होकर, तख्त पर बैठे। १४१।

दोहा—दोनों कथाओं को सुनकर उसी समय सुलतान ने फरमान दिया कि असलान काफी समर्थ है। उसे किस प्रकार गिरफ्तार किया जाय।

रड्डा—तब राजा कीर्तिसिंह बोले, स्वामी आप यह क्या कुमंत्रणा करने लगे। कैसे समय में आपने ये हीन बातें कीं। क्यों शत्रु सेना की चिन्ता करते हैं ? क्यों शत्रु की सामर्थ्य का बखान करते हैं ? सभी लोगों के देखते मैं पीठ (घोड़े की) पर चढ़कर जाऊँगा और विजय की सूचना लाऊँगा। मैं उसके घोड़ों की कतारों को पीछे ठेल दूँगा और उसे पकड़ लाऊँगा।

छपद्—आज वैर का बदला लूँगा, यदि शत्रु संग्राम में आ जाए। यदि उसके पक्ष से इन्द्र भी अपना बल लेकर आए। यदि उसकी रक्षा के लिए विष्णु और ब्रह्मा के साथ शंकर ही तैयार क्यों न हों ! शेषनाग की जाकर दुहाई दे, चाहे उसकी ओर होकर यमराज क्रुद्ध होकर आयें। इतना होने पर भी

असलान को मारूँ तब तो, मैं मैं हूँ। मैं उसके रक्त को लाकर चरणों पर रख दूँ, यदि इस अपमान के समय वह जीव लेकर पीठ दिखाकर भाग न जाए।

दोहा—तब सबका सार (अन्तिम रूप से) यह फरमान हुआ कि कीर्तिसिंह की इच्छा को पूर्ण करने के लिए सेना को पार करो।

भोला छन्द—घोड़ों की सेना ने गण्डक के पानी को तैर कर पार किया। (इधर) शत्रु सैन्य को नष्ट करने वाले राजा कीर्तिसिंह और उधर महामत्त अभिमानी मलिक असलान। असलान ने कतारों में अपनी सेना तैयार की। भेरी, काहल, ढोल, नगाड़े, रण-तूर्य बज उठे। राजधानी के पूरब मध्याह्न-वेला में दोनों सेनाओं का संघर्ष हुआ। युद्ध भेरी बजने लगी। पद-प्रहार से पृथ्वी काँप उठी। गिरि शिखर टूटकर गिरने लगे। कवचों के फटने की आवाज कान में प्रलय-वृष्टि की तरह पड़ रही थी। वीर-हुंकार कर रहे थे, अंग में रोमाञ्च हो आता था। चारों ओर तलवारों की धार से चकमक चमक हो रही थी। फिर भी घुड़सवार शत्रुओं के झुण्ड में दौड़कर घुस जाते। मतवाले हाथी फलक-वाहियों के साथ पीछे हो जाते। सींगिनियों के टंकार-भार से आकाश-मंडल पूर्ण हो गया। पंक्तिवद्ध सेनाएं एक दूसरे के व्यूह को चूर-चूर कर देतीं। विक्रम-गुण से भरे वीरों का दर्प क्रोध से बढ़ने लगा।

चारों ओर पृथ्वी पर युद्ध हो रहा था। कोदण्ड खंड होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते। उलट कर कवच पर तथा वाहों पर अपनी तलवारों से प्रहार करते थे। १७४।

विद्युन्माला छन्द—हुँकार करके वीर गरज रहे थे। पैदल चक्र-व्यूहों को तोड़ रहे थे। दौड़ते हुए तलवार की धार से टूट जाते थे। वाण से कवच फट जाते थे। राजपुत्र रोष से तलवारों से जूझ रहे थे। आरुष्ट वीर आ रहे थे, और इधर-उधर दौड़ रहे थे, एक एक से लड़ रहे थे, शत्रु की लक्ष्मी का नाश कर रहे थे। अपने नाम का गर्व करते थे और बेलक फेंककर शत्रु को मारते थे। अपार युद्ध को समझते थे, क्रुद्ध होकर वाणों से युद्ध करने लगते थे। १८१।

छपद—दोनों ओर से सेनायें चलती थीं, बीच युद्धस्थल में भेंट हो जाती। खंग से खंग टकरा जाते। अग्नि के स्फुलिङ्ग फूट पड़ते थे। घुड़सवारों की तलवार की धार से राउत घोड़े के साथ कट जाता था। बेलक के वज्रप्रहार से शरीर कवच के साथ फूट जाता था। शत्रुओं के हाथियों का शरीर घायल हो गया। रुधिर की धार से गगन भर गया, कीर्तिसिंह के कार्य के लिए वीरसिंह संग्राम करते हैं। १८७।

रड्डा—यह युद्ध धर्मराज देख रहे थे और सुलतान देख रहे थे। इन्द्र, चन्द्र, सुर, सिद्ध और चारणों से आकाश छा गया। इन वीरों का युद्ध देखने आए हुए विद्याधरों से नभ भर गया। जहाँ जहाँ शत्रुओं का सघन समूह दिखाई पड़ता वहीं-वहीं मार पड़ती मेदनी शोणित से मज्जित हो गई, कीर्तिसिंह ने ऐसा युद्ध किया।

भुजंगप्रात—कहीं रुण्ड (कवन्ध) कहीं मुण्ड (सिर) पड़ा है। कहीं बाँह खड़ी है। सियार कंकाल-खण्ड को उकील रहे हैं। कटे हुए शरीर पृथ्वी पर धूल में लोट रहे हैं। लड़ते हुए, चलते हुए पैरों को फँसा लेते हैं। अँतड़ियों के जाल में आबद्ध गिद्ध उलझते हैं। फिर चर्बी में शीघ्रता से डूबकर उड़ जाते हैं। प्रेत गाता हुआ, रक्त पीता हुआ, आनन्द से घूमता हुआ, महा-मांस खण्ड को भर रहा था (खा रहा था) सिसकारी देती, फेंकरती और शोर करती भूतनिया भूख से डकारें लेतीं। वेतालों का झुण्ड शोर करता। कवन्धों को उलटता-पलटता और टेल देता। रोष के साथ संकेत करते हुए तोड़ देता है। साँस छोड़कर घायल प्राण छोड़ देते हैं। जहाँ रक्त की तरंगे कल्लोल करती थीं वहाँ सजे हुए हाथी डूब जाते थे।

छपद—रक्त, कर और अंग तथा सिर को खाकर ऊबकर, फिर फोड़-फोड़ कर खाने लगता है। हाथ से जब हाथी नहीं उठता तो वेताल उसको छोड़कर पीछे चल देता है। नर-कवन्ध तड़फड़ाते हैं, वेताल उनके मर्म को भेद देता है। रुधिर की नदी के किनारे भूत लोग 'झिझरी' का खेल खेलते हैं। कूदकर डमरू बजाकर, सब दिशाओं में डाकिनियाँ चिल्ला रही हैं। कबन्ध से पृथ्वी भर गई। राजा कीर्तिसिंह युद्ध कर रहे हैं। २१४।

दोनों सेनाओं में घमासान होने लगी। तलवारों के टूट जाने से कौन मानता है। शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, वीर दौड़कर आगे बढ़ जाते हैं।

अन्तरिक्ष में अप्सराएँ अपने कमल करों से अँचल पकड़ कर हवा कर रही हैं। भ्रमर रूपी कामदेव डोल रहा है, उनकी आँखें प्रेम से चमक रही हैं। गन्धर्व-गण दुन्दुभि बजा रहे हैं, उनके मनकी दशा (प्रसन्नता) कौन जानता है। कीर्ति सिंह के रण-साहस पर कल्पतरु से सुमन-वृष्टि हो रही है।

रड्डा—तब मलिक असलान सोचता है: मेरी सारी सेना पृथ्वी पर पड़ गई। बादशाह, क्रुद्ध होकर आए हैं। मेरी अनीति का महावृक्ष फल रहा है। मेरा दुर्भाग्य मेरे पास आया है। फिर मैं प्राण देकर भी निर्मल-यश क्यों न लूँ। कीर्तिसिंह के साथ सिंह-पराक्रम एकवीर की भेंट हो ही जाए।

छन्द—हँसकर, दाहिने हाथ में वीरता-पूर्वक तलवार लेकर लौट पड़ा। वहाँ आपस में एक पर एक प्रहार होने लगे। खंग से खंग की धार टूट गई। घोड़े सुन्दर गतियाँ दिखाने लगे। तलवार बिजली की तरह चमकने लगी। अडिग शरीर टूट-टूट कर गिरने लगे। शरीर से शोणित की धारा बह चली। तुरंग की तरंग में मन खो गया। क्रोध के कारण जैसे शरीर छोड़ दिया हो। सभी लोग युद्ध देख रहे थे। जैसे महाभारत में कर्ण और अर्जुन का युद्ध हो रहा हो। या बाणासुर और माधव के युद्ध की बात याद आ गई।

महाराज ने मलिक को धर दबाया। असलान ने अपनी पीठ दिखा दी। उस समय राजा कीर्तिसिंह ने उसे देखा और प्रसन्न हुए। जिस हाथ से तूने मेरे पिता को मारा वह हाथ क्या हो गया?

गद्य—अरे अरे असलान, प्राण के लिए कायरता दिखाने वाले, मन का अनादर करने वाले, युद्ध-भूमि में साहस छोड़ने कर भागने वाले, तूझे धिक्कार है। अरे, जीवन मात्र से प्रेम करने वाले कायर, अपयश लेकर कहाँ जाता है। शत्रु की दृष्टि के सामने पीठ करके जा रहा है जैसे अनुजवधू भ्रातृ-श्वसुर के सामने पीठ करके जाती है।

दोहा—जहाँ जी लेकर जी सको वहीं जाओ, मेरी कीर्ति त्रिभुवन में बनी रहेगी, मैंने तुझे जीवन-दान दिया।

तू रण से भागा है, तू कायर है। और जो तुझे मारेगा वह भी कायर है। जा जा सागर की ओर जाकर रह।

रड्डा—राजा कीर्ति सिंह युद्ध में विजयी होकर लौटे। शंख-ध्वनि हुई। नृत्य, गीत बाजे बजने लगे। चारों वेदों की झंकार के बीच शुभ-मुहूर्त में अभिषेक हुआ। बान्धव-जनों ने उत्साह प्रकट किया। तिरहुत ने अपना रूप प्राप्त किया। बादशाह ने तिलक किया और कीर्तिसिंह राजा हुए।

श्लोक—इस प्रकार संग्राम भूमि में साहस-पूर्वक शत्रु-मंथन करने से उदित हुई लक्ष्मी को राजा कीर्ति सिंह चन्द्रमा और सूर्य के रहने तक पुष्ट करें। और जब तक यह संसार है, उनके खेलन कवि विद्यापति की भारती (कविता) जो माधुर्य की प्रसव-स्थली और श्रेष्ठ यश के विस्तार की शिक्षा देने वाली सखी है, विद्यमान रहे।

महामहोपाध्याय विद्यापति विरचित कीर्तिलता का चतुर्थ पल्लव समाप्त हुआ। शुभम्।

शब्द सूची

अ

अइस २।५२ = ऐसा
अइसनेओ ३।५४ = ऐसा
अइसेओ २।२१३ = ऐसा
अउताक ४।१२१ = शीघ्रता से ?
अओका २।१६३ = अपरक, दूसरे का
अंग ३।१६१ = अंग
अंगवइ २।२२ = अंगीकृत करता है
अँटलै ४।४६ = बाँधा हुआ
अँतरे २।२३० = अन्तः अँतरे पँतरे
अक्खर २।१४ = अक्षर
अछै ३।१२६ = है (अछइ<अक्षति)
अगणेय १।७१ = अनगिनत
अग्गि ३।१५२ = अग्नि में
अग्गिम ३।३ = अगिला, अग्रिम
अज ३।१४ = आज
अजने १।३४ = अर्जन में
अजाति २।१३ = जातिच्युत
अछ २।४२ = है
अछए ३।१३१ = है
अटारी २।६७ = अट्टालिका
अट्ठाइसओ २।२४४ = अठाइस(समुच्चय)
अणवरत ४।१६ = अनवरत
अतत्थ १।५३ = अतथ्य, असत्य
अत्थिजन १।५२ = याचक लोग
अतुलतरविक्कम १।१८ = असीम पराक्रम

अदप ३।४३ = अदब
अद्यपर्यन्त २।२४१ = आज तक
अधओगति २।१४२ = अधोगति
अनन्ता २।१७३ = अनन्त
अनुरत्तेओ ३।१४८ = अनुरक्त
अनुरंजिअ २।२५० = अनुरंजित
अनुसर ४।२५२ = अनुसरण करो
अन्तावली ४।१६७ = अँतड़ियाँ
अन्धार ४।२० = अंधकार
अन्धकार २।१४२ = अन्धकार
अपन २।४८ = अपनी
अपने २।१२० = अपने
अपनेहु ३।३८ = अपना भी
अप्प २।११८ = अपने
अप्पा ४।१८० = अपना
अप्पिआ ३।८१ = अर्पित किया
अप्पहि ४।४ = अर्पित करो
अपामन २।१३३ = अपावन
अब्दगल ३।४३ = एक अधिकारी ?
अबे २।१७० = अबे (गाली)
अभाग २।२३६ = अभाग्य
अभ्यन्तर २।२४८ = भीतर
अम्ह ३।१३४ = मेरा
अराहिअउँ ३।७ = अराधना की
अरे २।३१ = अरे (सम्बोधन)
अरु ३।१८ = और

अरुज्झाल ४।१६७ = उलझन
अलहना २।१३४ = अलाभना
अवर ३।१७ = अवर, अश्रेष्ठ
अवरु २।५४ = और
अवस ३।२८ = अवश्य
अवसओो १।६ = अवश्य ही
अवहट्ठ १।२१ = अपभ्रष्ट, अपभ्रंश
अवहि ३।४४ = अबहिं, अभी
अवि अवि च २।१०० = अपि अपि च
अष्वर २।४५ = अक्षर
अष्टधातु २।१८० = आठो द्रव्य
अस २।१७ = ऐसा
असहना ३।३२ = असहने वाला
असंझहि २।२५३ = सन्ध्या पूर्व
अहह ३।११४ = हा, हा
अहिमान ३।२६ = अभिमान
अहो २।३३८ = विस्मय सूचक

आ

आअत ३।५७ = आयत्त
आआ २।२१८ = आया
आइअ ३।१६ = आया
आँग २।११० = अंग
आँचर २।१४६ = अंचल
आँतरे २।६२ = बीच में
आकण्डन १।२६ = आकर्णन, सुनना
आकण्णे २।३२ = आकर्णे, श्रवण
आक्रीडन्ते २।६६ = खेलते
आगरि २।११५ = चतुरा
आडी २।११७ = आड़ी, तिरछी
आनए २।२०२ = लाता है
आनथि ४।८३ = लाता है
आनलि २।१४६ = लाई हुई
आनहि २।६० = आनते हैं (लाते हैं)
आनिअ २।१८५ = लाया
आनु ४।४३ = लाये
आपँ २।२२३ = अपने ही
आराधि १।७६ = आराधके (आराधना करके)
आरुट्ठा ४।१७८ = आरुष्ट (क्रोधित)
आरंभओ १।२ = आरंभ करके
आवत्त २।२१७ = आता हुआ
आवथि २।११३ = आता है
आवहिं २।२१६ = आते हैं
आस ३।११३ = आशा

इ

इअ २।२२६ = इतः, यहाँ
इअर ३।३३ = इतर, दूसरे
इअरो १।३५ = दूसरे
इथ्थि ४।१२ = यहाँ
इथ्थेन्तर ३।६५ = इसके बाद
इन्धन ३।१०० = इन्धन, जलावन
इबराहिम ३।८६ = इब्राहिम
इलामे २।२२३ = इनामे

ई

ई १।१२ = यह

उ

उअआर १।१८ = उपकार
उग्गिह २।१२५ = उदय हुआ
उगाहिअ ३।२४ = उगाहा, इकट्ठा किया
उच्छलिअ ४।२५५ = उछली, उठी।

ऊ

ए

ऐ

ओ

ओ २।७१ = वह
ओ १।११ = वह
ओइनी १।४६ = एक वंश
ओकरा २।१३० = उसका
ओझा ३।१४० = ओझा∠उपाध्याय
ओर २।५२ = तरफ
ओहु ३।६० = वह

औ

औका २।१२६ = अओका, दूसरे

ऋ

ऋण २।६६ = ऋण

क

क २।१०७ = सम्बन्ध की विभक्ति
कइ २।११७ = करके
कइकुल २।१४ = कविकुल
कइसे २।१४६ = कैसे
कए २।२७ = करके
कंचना ३।१२१ = कंचन
कंटक ३।६४ = काँटा
कलंकोइ ४।१६४ = उकीलते हैं
कछु २।४१ = कुछ
कज्ज २।११५ = काज
कज्जल २।८६ = काजल
कओ ४।४ = कहूँ
कओण ३।१६ = कौन
कटका ओ ३।१५८ = कटक, सेना
कटाच्छ छटा २।१५० = कटाच्छ छटा
कट्टि ३।७ = कट कर
कट्टे ३।१०७ = कण्ठ से

कत ३।१५० = कितना
कतन्हि ४।६० = कितनों का
कतहु २।१६४ = कहीं
कतेहु २।७४ = कितने ही
कत्त ३।१३८ = कितनी
कनिक ३।१०१ = कनिक, अन्न
कनिट्ठ १।७६ = कनिष्ठ
कन्त ३।२ = कान्त
कन्दल ४।६८ = युद्ध
कन्न १।३८ = कृष्ण
कप्पूर २।८६ = कपूर
कवन्धो ४।२०४ = कवन्ध
कब्बाब्ब २।१७८ = कब्बाब
कमण २।५३ = कौन
कमन ४।२४३ = कौन
कम्पइ २।२२६ = काँपता है
कम्पा ४।११० = काँपती है'
कम्म २।१८ = कर्म
कमानहिं ४।८० = कमान से
कम्माण २।१६० = कमान
कर ३।८४ = कर, टैक्स
कर १।३८ = हाथ
करओ ३।२५ = करता है
करउ १।७७ = करो
करओ २।२० = करूं
करतार २।२३७ = करने वाला
कढन्ता २।१७२ = काढ़ते हैं
करन्ता २।२२७ = करते हैं
करवालहीं ३।७४ = करवाल से
कराण ३।२ = कान, कर्ण
करावए ३।२८ = कराता है

करांगन ४।२०६ = हाथ और अन्य अंग ।
करिअ ३।८१ = किया
करिअइ २।२४ = कीजिए
करिअउं १।४१ = किया
करिज्जइ ३।५७ = करना चाहिए
करिव्वउं ३।५८ = करके,
करिषु ३।५६ = करना चाहिए
करिहि १।१६ = करेगा
करहु २।३२ = करो
करी २।१०६ = की
करु २।२५३ = किया
करुआ ३।१०३ = कडुआ
करेओ २।१०३ = का
करो २।११० = करो
क्रयकार २।१०१ = खरीदना
कलशहि २।८६ = कलशों से
कलामे २।१७१ = कलमा
कलीमा २।१७१ = करीमा !
कलु ३।११४ = खलु
कल्लान ३।१४ = कल्यान
कवण १।१३ = कौन
कवणे २।२२७ = किस
कवहु २।२४ = कभी-कभी
कव्व १।३ = काव्य
कव्व कलाउ १।७ = काव्यकला
कव्वहीं २।६१ = काव्य से
कसवट्ट ३।१२१ = कसौटी,
कसीदा २।१७२ = क़सीदा
कसीस ४।६७ = बारूद ! लोहे का बुरादा ।

कसेर २।१०१ = बर्तन बेचने वाल । कसेरा
कह २।११७ = कहता है
कहउँ १।३६ = कहता हूँ
कहए ३।२० = कहता है
कहओ ३।१३८ = कहूँ
कहन्ता १।८ = कहने वाला
कहनी १।३६ = कथानिका
कहन्ते २।१०३ = कहते हुए
कहल २।७२ = कहा
कहवा १।५४ = कहना
कहसि १।२६ = कहो
कहहु ३।३ = कहो
कहिअजे २।५ = कहा जाता है
कहीं ४।१६० = कहीं
कहेओ ३।१४६ = कहूँ
का २।३४ = सम्ब० परसर्ग
का १।१३ = कैसे
काँ २।१३ = 'का' परसर्ग
काअर २।३६ = कायर
काअथ २।१२१ = कायस्थ
काचले ४।४६ = स्वच्छ चमकीला
काँच ४।७६ = कच्चा
काञ्चन २।२४२ = स्वर्ण का
काज २।१०७ = कार्य
काजर २।१३० = कज्जल
काञि १।१ = कैसे
काँड़ ४।१६३ = कान, कर्ण
काँधा ४।४६ = स्कन्ध, कन्धा
कापल २।६५ = कर्पट, कपड़ा
कापड़ ३।६८ = कपड़ा

कामन २।१३२ = कामना
कामिनी २।८८ = कामिनी
कारण ४।१६० = कारण, लिए
कारिअ १।७ = कर के
कालहिं ३।५१ = काल पर, समय पर
काँसे २।१०१ = कास्य, काँसा
काष्ठा ३।१२२ = काष्ठा, सीमा
काह ३।५८ = क्या
काहु २।६५ = कोई
कियउ ३।६ = किया
किक्करउँ ३।११४ = क्या करें
किक्करिया ४।३ = क्या किया
किछु २।११४ = कुछ
किज्जिअ ४।२५६ = किया
कित्ति ३।३१ = कीर्त्ति
कित्तिम २।१३१ = कृत्रिम
कित्तिलद्ध १।२७ = कीर्तिलब्ध
कित्तिवल्लि १।१ = कीर्तिलता
कितेबा २।१७३ = किताब
किनइते २।११४ = कीनना
किमि २।२ = कैसे
किरिस ३।१०८ = कृश
की १।२३ = क्या
कीनि २।६० = कीनकर
कुट्टिम २।८० = फर्श
कुण्डा २।१७५ = कुण्ड
कुमन्त ४।१४५ = कुमंत्र
कुमर २।५६ = कुमार
कुरुवक ३।४३ कोरवेग; अस्त्र-शस्त्र का अधिकारी
कुसुमिअ २।२१ = कुसुमित
कुसुमाउँह १।५७ = कुसुमायुध
कूट ४।२० = शिखर
कूजा २।१६२ = कूज़ा (प्याला)
के २।१६ = परसर्ग
केदारदान १।५८ = क्षेत्रदान
केलि ३।८१ = क्रीड़ा पूर्वक
केरा २।७८ = का
केरी ४।८६ = की
केस २।४१ = केश
को २।३८ = का
कोकनद ३।३६ = रक्त कमल
कोथइञे ४।६१ = कुथड़े, चिथड़े
कोपि २।३० = क्रुद्ध होकर
कोर २।१२६ = शिरा
कोहे २।२५ = क्रोधे
कोहाए २।१७५ = क्रुद्ध होता है
कोहाणे ४।१८१ = क्रोधसे
कोहान ४।२२२ = क्रोध से
कौडि ३।१०१ = कपर्दिका, कौड़ी
कौतुक २।६२ = तमाशा
कौसीस २।६८ = कोट्टशीर्ष

ख

खअ १।४१ = क्षय, क्षत
खग्ग ३।४७ = खड्ग
खग्गग्ग ४।७३ = खड्ग + अग्नि
खणे ३।७५ = क्षणे
खण्डिअ १।५१ = खण्डित
खत्तिअ १।४१ = क्षत्रिय
खम्भ १।२ = खंभा
खा २।१८८ = खाता है
खाण २।११७ = खान

खीनि २।१४६ = क्षीण
खुन्द ४।३८ = खोदते थे ?
खुखुन्दि ४।१३५ खोदकर
खेत्तहिं १।१ = खेत में, क्षेत्र में
खेलच्छल १।४ = खेल के बहाने
खेलइ २।६३ = खेलता है
खोजा २।१६६ = ख्वाजा
खोणि ४।१२८ = क्षोणि, वसुन्धरा
खोदाए २।१७४ = खुदा
खोदालम्म ३।१२ = खुरावन्द, खुदाए आलम
खोहणा ४।३२ = क्षोभ पैदा करने वाले

ग

गअण्डी ४।१९९ = गीत गाते ?
गअन २।५८ = गगन
गइ ३।७ = जाकर
गउँ २।२६ = गए
गए १।३ = जाकर
गणइ ३।७५ = गिनता है
गणए ४।१०७ = गिनते हुए
गणना ४।६८ = गणना
गणन्ता २।२२६ = गिनते हुए
गन्दा २।१६० = गन्दा
गन्धव्वा २।२३१ = गन्धर्वैः
गद्दवर ३।४३ = एक अधिकारी ?
गद्दह ४।११६ = गदहा
गब्ब ३।१७ = गर्व
गमिअउ ३।१०५ = गमन किया
गमारन्हि २।१५१ = गँवारो को
गमावथि ४।७९ = गँवाते हैं
गरहा ४।६८ = ग्रह ? दुष्फल
गरिट्ठ १।७६ = गरिष्ठ, भारी
गरुअ ३।१३७ = गुरुक, गरहू
गरुवि २।१८६गुरु
गह २।१७४ = आग्रह
गहओ २।४१ = पकड़ूँ
गहिज्जिअ ३।१५२ = ग्रहण किया
गाइक २।२०३ = गाय का
गाओष २।८५ = गवाक्ष
गओ २।६३ = गाँव, ग्राम
गाड २।१५१ = गड़ जाती
गाडू ? २।१८३ = गाली, गडुवा
गाढिम ४।११२ = गाढ़, अस्पष्ट
गारि २।१८३ = गाली, गिराना
गालिम २।२१९ = गुलाम
गणहते ३।८४ = ग्रहण करते
गिरि २।२३ = पर्वत
गीअ २।९१ = गीत
गुणक २।१२३ = गुण का
गुणमन्ता २।१३४ = गुणवान्
गुण्डा २।१७४ = गुण्डा
गुणणइ २।१७ = गुनता है
गुणिअ ३।५४ = गुनना चाहिए
गुणे १।६० = गुण से
गुरुलोए २।२३ = गुरु लोग
गुर्गुरावर्त्त २।१०४ = 'गुर्गुर' की ध्वनि, गर्जन
गेट्ठि ३।३५ = गाँठ ?
गेल ३।४१ = गया
गोइ १।४४ = छिप कर, गोय कर
गोचरिअ ३।१० = दिखे, गोचरित
गोचरिअउँ ३।१५४ = दिखाई पड़े

गोट्टओ २।१२ = पूरा
गोपुर २।६६ = गोपुर
गोमर २।२०८ = कसाई
गोवोलि २।१५१ = बैल कहकर
गोरि २।२०८ = कब्र
गोसाञुनि २।११ = गोस्वामिन्
गौरव २।१३४ = गौरव

घ

घटना टंकार २।१०१ = गढ़ने की ध्वनि
घटित २।२४२ = घटित
घण ३।७२ = घन, बादल
घने २।१११ = सघन, बहुत
घर २।१० = घर
घास ३।११७ = घास
घुमाइअ ३।६४ = घुमाया
घोल २।६५ = घोड़ा

च

चक्कह ४।१६ = चक्र
चंङ्गिम ४।२३० = तेज़
चडि ४।१४७ = चढ़ि
चडावए २।२०३ = चढ़ाता है
चतुस्सम २।२४७ = चौकोर
चन्द १।६ = चन्द्र
चप्पिलउँ ४।२४० = चाँप लिया
चप्परि २।१० = जबर्दस्ती, शीघ्र ?
चरष २।१२७ = चक्करदार
चलए २।२३० = चलते
चलल २।१७६ = चला
चलिअर ३।६७ = चलित, चला
चलु २।५८ = चला
चलेउ २।५१ = चला
चाँगरे ४।४५ = सुन्दर
चांगु ४।४५ = चंगा, सुन्दर ?
चाट २।२०४ = चाटता है
चाँद २।१३० = चन्द्र
चान्दन ३।१०० = चन्दन
चापन्ते ४।१७ = चापते हैं
चपि ३।१४६ = चाँप कर
चाबुक ४।६५ = चाबुक
चामर ३।२४ = चामर
चामरेहिं ४।३६ = चामर से
चारी ३।१४२ = चारो
चारीआ २।२१८ = चालित, चलते हैं
चारुह्नु ४।४६ = चारों
चारुकला ४।२३० = सुन्दर गति से
चालिअ ४।५ = चला
चासर ४।१२२ = ?
चाह २।१४७ = चाहता है
चाहन्ते २।२१६ = चाहते हैं
चिन्तइ ३।११५ = चिन्ता करता है
चिरजियउ १।७७ = चिरजीवो
चुक्कओ २।४३ = चूकूँ
चुक्किअ ३।११८ = चुका
चुक्किह ३।५१ = चुकेगा
चुडुआ २।२०३ = शुरुआ ?
चुप २।१८३ = चुप, शान्त
चूअ २।८१ = चूत, आम
चूर २।१११ = चूर्ण करता है
चूरीआ २।११७ = चूर्ण किया
चूरेओ १।८० = चूर्ण किया
चूह २।८० = चूता है ?

जाउ ३।१६२ = जावे
जागु २।२६ = जागा
जाउँ २।४८ = जावे
जाए २।४१ = जाता है
जाचक १।१८ = याचक
जाथि २।११२ = जाते हैं
जान ३।४६ = जानता है
जानन्ता २।२२२ = जानते हैं
जानल १।५८ = जाना
जानलि १।८६ = जानी हुई
जनि २।२४१ = जानो, जैसे
जानिअ २।२३६ = जाना
जन्हि २।२४६ = जिन
जन्हि के २।१२८ = जिनके
जारिअ ३।८५ = जलाया
जाल २।८५ = जाल
जाषरी २।१८६ = नट्टिनी
जासि ४।२४५ = जाता है
जासु १।२६ = जिसके
जाहाँ ३।६१ = जहाँ
जाहिं ४।२५२ = जाअ
जिअन्ता २।१७१ = जीते हुए
जित्ति ४।२५४ = जीत कर
जिजीषु ३।६२ = विजयेच्छु
जीअना २।३६ = जीना
जीअउ २।२१३ = जीवतु, जीवो
जीव सजो २।४६ = जीव के समान
जीवसि ४।२४८ = जीता है
जुअल ३।३५ = युगल
जुज्झइ १।४८ = जूझता है, युद्ध करता है
जुवल ३।३५ = युगल
जूठ २।१८८ = उच्छिष्ट
जूंआँ २।२१४ = छूत
जे १।४३ = जिसने
जेट्ठ २।४२ = ज्येष्ठ
जेन १।३६ = जेण
जेन्हे ३।१५१ = जिसने
जेन्ने १।६४ = जेण, जिन्होंने
जो १।१६ = जो
जोअइ २।३६ = जोहता है, प्रतीक्षा
जोअएडा ४।११२ = योजन
जोए २।१६१ = जाया
जोनापुर २।७७ = यवनपुर, जौनपुर
जोरण २।८५ = जोरने वाला
जोव्वण २।११५ = यौवन
जो २।१८५ = यदि

झ

झंपिआ ३।७० = झंप गया, छिप गया
झंष ३।५८ = झंखता है, अफसोस करता है
झंखणे ३।७६ = झंखने से
झाटे ३।१४६ = झटिति, झट से
झूट २।१० = झूठ,

ञ

ञेञोन २।२३६ = जौन, जो
ञेंहाँ ३।२१ = यहाँ
ञुण २।४३ = पुनः

ट

टरि ४।२३२ = टल कर
टङ्का ३।६६ = टङ्क, मुद्रा

टाप २।२४४=टाप, घोड़े के पैर की चाप
टारिश्रा २।८०=टाल दिया
टूटन्ता ४।१७६=टूटते हैं
टोप्परि ४।२३२=टपर कर, रुककर

ठ

ठक्क २।१०=ठग
ठट्टा २।२२६=भीड़
ठट्टहिं २।६४=भीड़में
ठवन्ते २।६५=चलते हैं
ठाकुर २।१०=स्वामी
ठाम २।२०६=स्थान
ठामहिं २।२३६=स्थान में

ड

डर ३।७६=डर, भय
डिठि २।११८=दृष्टि

ढ

ढलवाइक ४।७१=ढाल वाहक

त

तश्रो ३।८=तो
तइसना ३।५२=तैसा
तइसश्रो १।३=तैसा
तं २।७६=इसलिए
तंमहुमासहि ३।५=तंमधुमासहि उस मधुमासमें
तकतान ३।६६=तख्त ?
तक्कस १।४६=तर्क कर्कश
तजान ४।३६=तर्जन
ततत २।१७८ तप्त ?
ततो २।१५८=ततः
तथ्थ २।१६२=तश्तरी
तथ्थि २।२२५=वहाँ ?
तनश्र १।६२=तनय
तबही २।१८३=तभी
तबे २।१४०=तब
तम्बारू २।१६८ ताम्रपात्र
तरले ४।४६=तरल
तरट्टी २।१३६=चंचल
तवल ३।७१=तवला
तव्वउँ ३।२५=तब भी
तब्बे ३।६=तभी
तवे २।४६=तब
तवेल्ला २।१६२=तबेले, अस्तबल
तवहु २।१२५=तब भी
तलप्प ४।३२=तड़प कर
तसु २।१२५=उसका
तहाँ ३।१३१=तहाँ
ता १।५४=उस
ताकी २।१८४=ताकता
तातल २।१७५=तप्त, तपाया हुश्रा
तान्हि १।७०=उनके
तासञो २।११७=उसके साथ
तारुन्न २।१३१ तारुण्य
तास से ४।३८=सूम से
ताहाँ ३।२१=वहाँ
ताहि २।६५=उसको
तिन्नि १।४६=तीन
तिसु ३।१४४=उसका
तिहुश्रण ४।२४६=त्रिभुवन
तिरहुत्ती २।३=तीरभुक्ति
तीखे ४।४६=तीक्ष्ण
तीनुहु १।८५=तीनों ही

तीनू २।३६ = तीनो
तीर २।१६३ = तीर, बाण
तुज्झ ३।२२ = तुम्हारे
तुम्ह ३।६२ = तुम्हारा
तुलनाञे १।७८ = तुलना में
तुलकन्हि ४।१२० = तुर्कों की
तुलिअओ १।६६ = तुलाया, समानता की
तुलुक ३।७३ = तुर्क
तुरुक्का २।१७३ = तुर्क
तुरुकाणञो २।१५७ = तुरुकाणाम्, तुरुकों का
तुरुकिनी २।१८७ = तुर्क की स्त्री
ते २।४८ = फिर
ते १।३ = पुनः
तेजि ताजि ४।४१ = घोड़े की जात
तेतुली २।२८ = उस
तेन २।२ = उसने
तेन्हि ३।४५ = उसके
तेन्हे ३।१५४ = उन्होने
तेलंगा २।२२८ = तैलंग
तेसरा २।१४० = तीसरा
तैसन ३।१२२ तैसा
तो २।२१५ = तो
तोके ३।२५ = तुमको
तोवि ४।१६७ = तोऽपि
तोर २।२०४ = तोड़ता है
तोरन्ते ४।१८ = तोड़ते हुए
तोषारहि २।१७६ = तोखार से, घोड़े पर
तोहें ३।६१ = तुमको
तौ ३।२३ = तोऽपि
तौन ३।२३ = वह
तौलन्ति २।१६५ = तौलते हैं।

थ

थनवार ४।२८ = स्थानपाल, साईस
थुक २।१७७ = थूक
थप्पिआ ३।८२ = स्थापित किया
थल २।८७ = स्थल
थारे २।२२२ = खड़े थे
थोल ३।८७ = थोड़ा

द

दए १।२० = देकर
दनेज ४।११ = दहलीज़ ? नौकर
दप्प १।७६ = दर्प
दब्ब १।३० = द्रव्य
दमसि ४।१२८ = मर्दित करके
दरम २।१७८ = ?
दरवाल २।२३८ = दरवार
दरवेस २।१८६ = दरवेश
दर सदर २।२३६ = सदर दरवाजा
दलञो २।४५ = दलूं
दलिअ १।४७ = दलित किया
दवलि २।१७७ = दौड़ कर
दसओ १।६३ = दशा
दाढ़ी २।१७७ = दाढ़ी
दाने ३।३१ = दान से
दापे ४।६७ = दर्प से
द्वारओ २।१६० = द्वार
दामसे ४।३७ = लगामसे
दारिगह २।२३६ = दरगाह
दारिद्द ३।१५१ = दारिद्र्य

दासओ ३।१०४ = दास को
दाषोल २।२४६ = दरखोल, ओसारा
दिगान्तर ४।१०८ = दिगन्तर
दिजिअ १।५३ = दिया
दिट्ठि ६।२१५ = दृष्टि
दिनद्धे ४।७८ = दिनार्द्ध, दोपहर
दिने २।७४ = दिनमें
दिन्न २।१६ = दीन, धर्म
दिसैं २।११५ = दिशा में
दीगन्तर ३।१३० = दिगन्तर
दीजिहि ३।१३० = देगी
दीनाक ४।६६ = दीन, दुखी का
दुअओ २।५६ = दोनों
दुक्ख २।३७ = दुःख
दुग्गम ४।६२ = दुर्गम
दुज्जन १।१८ = दुर्जन
दुट्ठ ४।२२३ = दुष्ट
दुरवथ्थ ३।११६ = दुरवस्था
दुरहि २।२१० = दूर से
दुरुहुन्ते २।२१८ = दूर से
दुहु १।४० = दोनों
दुअओ २।२१४ = दोनों
दूआ २।१८६ = दुआ
दूसिहइ १।४ = निन्दा करेंगे
दे २।१८३ = देता है
देउरि २।२०७ = देवकुल
देइ १।२ = देता है
देखि २।११२ = देखकर
देअेल २।३५ = दिया हुआ
देना २।२०६ = देना
देल २।६६ = दिया
देवहा १।३७ = देवस्थान
देवान ३।४३ = दीवान
देष ते २।२४० = देखते हैं
देषिअ २।१२७ = देखा
देषिअथि ४।८६ = देखते हैं
देसिल १।२१ = देशी
देहली २।१२४ = चौकठ पर
दैवइ ३।५७ = दैव का
दोआरहि २।२१८ = द्वार पर
दोक्काणदारा २।१६३ = दुकानदार
दोखे २।१४६ = दोषे
दोम २।१६० = डोम
दोषालन्हि २।२३८ = ओसारे
दोसरे ३।६६ = दूसरा
दोहाए ३।६६ = दुहाई
दौरि २।१८१ = दौड़ कर

ध

धकें ३।२४८ = सहसा, घर के ?
धनहटा २।१०२ = धान्यहाटक
धनि २।१२४ = धन्या
धन्ध ४।५ = धन्धा, कार्य
धनुद्धर ४।७० = धनुर्धर
धम्ममंति ३।१६२ = धर्मवान, धर्ममति
धर २।२०१ = धरता है, पकड़ता है
धरण ३।६८ = धारण
धरणि ३।४० = पृथ्वी
धरि २।२०२ = धर कर, पकड़ कर
धरिअ २।१८१ = धरिए
धरिअइ २।२५ = धरिए
धरिजिअ ३।१५३ = धरा, पकड़ा
धरिजिह ३।१४७ = धरेगी

धरेओ १।८४ = धरा, रक्खा
धवलिअ १।६७ = धवलित किया
धँस ३।१५२ = धँस जाती
धसमसइ ४।५६ = धसमस करती है
धाइ २।४१ = धा कर, दौड़ कर
धाँगड़ ४।८६ = जंगली, अनार्य
धाड़े ४।८८ = धावा, आक्रमण
धारागृह २।२४५ = धारागृह
धिक ४।२४५ = धिक्कार
धुअ १।४३ = ध्रुव
धुत्तह २।१३५ = धूर्त के
धुन्नइ २।१८ = धुनता है, पछताता है
धूप २।१२६ = धूप, अगरु
धूम २।१२६ = धुवाँ
धूलि ३।७० = धूल
धोआ २।२०६ = धौत, धोया हुआ

न

न २।१६ = नहीं
नअ १।६५ = नय, नीति
नअर २।१२३ = नगर
नअन ३।६ = नयन
नएर २।६ = नगर
नखत २।१६७ = नक्षत्र
नथ्थि ३।११० = नास्ति, नहीं है
नमि ३।८२ = झुका कर
नयनाञ्चल २।१४३ = नयन भाग
नलिन ३।६६ = कमल
नवइ २।२३४ = झुकता है
नवयी व्वना २।५७ = नवयौवन वाली
नहिं २।४५ = नहीं
नहिअ २।२२३ = लहिअ, पाते
नहीं २।२०६ = नहीं
नहु १।२८ = नहीं
नाअर १।१२ = नागर
नाएर २।६ = नागर
नाग ३।६६ = नाग (शेष)
नागरि २।११६ = नागरी, चतुर
नागरन्हि २।१५१ = नागरों का
नाच २।१८७ = नृत्य
नाञो २।६८ = नाम
नाटक २।६१ = नाटक
नामाना ४।१८० = नाम का
नारि २।१५२ = नारी
नाहि २।११२ = नहीं
नाह १।२५ = नाथ
निअ २।२२६ = निज
निअर ४।२२३ = निकट
निक्करुण ३।१०६ = निष्करुण
निक्कारिअहि २।१६१ = निकालते हैं
निकार २।२१० = निकालता है
निच्चिन्ते २।४० = निश्चिन्त
निञ २।२३६ = निज
निन्द ३।७६ = नींद, निद्रा
निन्दन्ते २।१४५ = निन्दा करते हैं
निद्राण २।२६ = निद्रा मग्न
निमज्जिअ २।११ = डूब गया
निमाज गह २।२३६ = नमाज घर (गाह)
निमित्ते २।१३१ = निमित्त से
निरवल ३।१०८ = निर्बल
निसान ४।३८ = निशान
निरुढ़ि १।३ = प्राप्त होकर

पत्थाव ३।६ = प्रस्ताव
पनहट्टा २।१०३ = पानहाट
पन्नविश्र २।५६ = प्रणाम किया
पप्फुरिश्र ३।३६ = प्रस्फुरित
पव्वतश्रो ४।२२ = पर्वत
पव्वतश्रो ४।२५ = पर्वत
पमानिश्र २।२५० = प्रमाणित, सम्मानित
पयदा ४।६ = पैदल
परउँश्रश्रारे २।३६ = पर उपकारे
परक्कम ३।१४६ = पराक्रम
परक्कमेहि ४।३० = पराक्रम में
परदप्प ४।१४० = परदर्प
परबोधें ३।१४७ = प्रबोधने से
परबोधओ १।१३ = प्रबोधूँ
परमत्थे १।४७ = परमार्थे
परयुत्थे ४।१६७ = शत्रु समूह में
परारी ४।१७६ = पर की,
पराइ २।१६१ = दूसरे की
परिश्रउँ २।३५ = पड़ गई
परिठव २।६५ = परिष्ठत्र
परिभविश्र २।१२ = पराभव हुश्रा
परिवत्ते ४।११४ = परिवर्तन से
परिवग्गा २।४३ = प्रतिज्ञा
परिहरिश्र २।५५ = परिहरित, छोड़ा
परिस्सम ३।५१ = परिश्रम
परिसेष ४।१२४ = परिशेष, समास
परु २।८ = पड़ु, पड़ा
पलइ ३।७५ = पड़ता है
पलटाए १।८६ = पलटाकर
पलट्टिश्र ४।२५४ = पलटा, लौटा
पाल्लविश्र २।८१ = पल्लवित हुश्रा
पल्लानिश्रउँ ४।२७ = जीन कसा गया
पलि ३।७८ = पड़ि, पड़कर
पवित्ती ४।३ = पवित्री
पष्खरेहिं ४।४२ = जीन
पखालिश्र २।७६ = प्रक्षालित
पसरु २।११५ = फैला, पसरा हुश्रा
पसरेइ १।१ = पसरे, फैले
पसाश्रो ३।४६ = प्रसाद
पसारइ २।१६२ = फैलाता है
पसारा २।१६२ = फैलाव
पसारिश्र १।३८ = प्रसारित किया
पसंसा १।१६ = प्रशंसा
पसंसइ १।४ = प्रशंसा करता है
पसंसए ४।६३ = प्रशंसा करते हैं
पसंसओ १।४२ = प्रशंसू, प्रशंसा करता हूँ
पहिल २।१८२ = प्रथम
पहार २।१८८ = प्रहार
पहु ३।८ = प्रभु
पाश्र ४।११७ = पाट
पाइश्रा २।२२१ = पाते
पाइक ४।७० = पैदल, पायक
पाइकह ४।१५ = पैदल का
पाइग्गह ४।२७ = पैदलों के
पाउँ १।५३ = पाँव, पाद
पाउँश्र १।२० = प्राकृत
पाखर ४।१८२ = पक्खर, जीन
पाछा २।१७६ = पश्च, पाछे
पाजे २।५६ = पादेन, पाएँ
पाजेला २।६२ = पाया
पाट २।६२ = पट्ट
पाटि २।६१ = पंक्ति

पाणै ३।१६१ = पालै, पालता है
पाणिग्गह ३।१२५ = पाणि ग्रह करके पकड़कर
पाणो ४।२०६ = प्राण
पातरी २।१३८ = पतली, पात्री
पातरे २।६१ = प्रान्तर
पातिसाह २।२३७ = बादशाह
पाती २।६७ = पंक्ति
पाथर २।२१७ = पत्थर, प्रस्तर
पानक ३।६६ = पान का
पानी ३।६७ = पानी
पापोस ३।१६ = पापोश ? चरणदर्शन
पार ३।८६ = पार
पारक ३।८६ = पार के
पारि २।१८६ = पार कर, पारना क्रिया
पारीआ २।२१६ = पा सके
पाव २।१८६ = पाता है
पावइ १।२० = पाता है
पावथि २।११४ = पाते हैं
पावन्ता २।२२१ = पाते हैं
पाविअइ १।५० = पाये
पाषरें ४।१४८ = पक्खर से
पासान २।८० = पाषाण
पिअ १।५६ = प्रिय
पिअरोज़ १।५६ = फीरोज
पिअन्ता २।१७० = पीते हैं
पिआज २।१८५ = प्याज़
पिआरिओ २।१२० = प्यारी
पिउँआ ४।१०३ = प्रिय + वा
पिच्छल ४।२१८ = चमकीला, गीला
पिन्धन्ते २।१३७ = पहनती है
पीठिआ ४।४७ = पीठ
पीवए ३।६८ = पीते
पुक्करो ४।४७ = पुकारता है
पुच्छविहूना १।३५ = पूँछहीन
पुच्छहि २।२४८ = पूछते हैं
पुच्छिअउं २।२५२ = पूछा
पुच्छि ३।५६ = पूछकर
पुच्छु ३।१२ = पूछा
पुच्छउ १।२३ = पूछा
पुञ्जिओ १।३३ = पुंज
पुत्त २।५८ = पुत्र
पुत्ता २।२३० = पुत्र
पुन्न १।३६ = पुण्य
पुण्ण २।१६ = पुण्य
पुन्नाम ३।१३२ = प्रणाम
पुव्व १।५१ = पूर्व
पुरवए ३।११३ = पूर्ण करता है
पुरसत्थ ३।१४२ = पुरुषार्थ
पुरिष ३।५७ = पुरुष
पुरिसओ १।३२२ = पुरुष
पुरिसाआरो १।३५ = पुरुषाकार
पुरिसथ्थ ३।१६ = पुरुषार्थ
पुरिल २।२०८ = पुर गई, भर गई
पुहवी ४।१०६ = पृथ्वी
पूजा २।१६६ = पूजा
पूर ४।५६ = पूरता है
पूरीआ २।११६ = भर गया
पूरेओ १।८० = पूरा किया
पूहविए २।२२० = पृथ्वी
पेअसि ४।४ = प्रेयसि
पेआज़ २।१६५ = प्याज़

पेल्लव ४।१२७ = बीतता है
पेलिश्र ३।६६ = बिताया
पेल्लिश्र २।६२ = बिताया
पेषणी २।१३३ = विदग्धा
पेष्खन्ते २।५३ = देखते हुये
पेष्खिय २।१२४ = देखा
पेष्खिश्रा २।२२६ = पेखा
प्रेरन्ते २।१३८ = प्रेरित करते हैं
पै २।१८५ = पइ, पर
पैठि २।६६ = पैठकर
पोखरि २।८३ = पुष्करिणी
पृच्छति ३।१ = पूछती है
पृथ्वी २।१०६ = पृथ्वी
फरमाने ४।८ = फरमान से

फ

फरिश्रा ४।७२ = चीरते
फरिश्राइत ४।१६८चीरते हुए ?
फल ३।५७ = फल
फलिश्र २।८१ = फलित
फलिश्रउ ३।१५६ = फला
फुक्किश्रा ३।७१ = फूंका
फुट्टन्ता ४।१७६ = फूटते हैं
फुलुग ४।१८३ = स्फुलिंग
फुर १।२३ = स्फुर
फूर ३।१६२ = स्फुट
फेरवी ४।२०६ = फिर से ?
फोट २।२०८ = तिलक
फोरि ४।२०६ = फोड़कर

व, ब

वश्रन ४।४५ = वचन
वइट्ठे २।२२१ = बैठते
वइस २।१२२ = बैठते
वइसि २।७ = बैठकर
वइसल ३।४३ = बैठा हुश्रा
वए ४।६४ = व्यय
वएन २।१७५ = वचन
वंगा २।२२८ = बँगाल के
वंध ३।१३० = बाँध दिया
वंभण २।१२१ = ब्राह्मण
बकवार २।१८३ = वक्रद्वार
वकहटी २।६७ = वक्रहाटिका
बगल ४।७६ = बगल
बङ्क २।११६ = वक्र
वजन ४।२५५ = वाजन, वाजे
वज़ारी २।१५८ = वाज़ार
वटुराना २।२२५ = इकट्ठा
वट्ट २।८८ = वर्त्म, रास्ता
वढ्ढइ ४।१७१ = बढ़ता है
वटोरइ १।४८ = वटोरता है
वटुश्रा २।२०२ = वटुक
वड ३।१०४ = वड़ा
बड़ा ३।४२ = बड़ा
बड़ाई ३।१३८ = वड़प्पन
वड्डि २।६४ = बड़ी
वड्डिम १।६५ = भारी
बड्डियन १।५४ = वड़प्पन
बड़ी २।१४४ = बड़ी
वड्डु श्रो २।८४ = बड़ा
वत्त ३।१२ वार्त्ता
वणिजार २।११३ = वणिज्यकार
वतास २।१४६ = वाताश
वथ्थु ४।११६ = वस्तु

वधेँ ४।८२ = वध में
वधिश्र ३।२३ = वध किया
वधिश्रउँ २।१६ = मारा, वधा।
वनिश्रउँ २।५१ = बने
वनिक २।६० = वणिक
वन्दा २।१६० = बन्दा
वन्दी ३।८५ = वन्दी, कैदी
वन्धव ४।२५७ = वान्धव
वन्धन्ते २।१३७ = बाँधते हैं
वन्धि १।२ = बाँधकर
वन्ही २।१३६ = बनी, वनिता
बब्बरा २।६० = वर्वर
वमइ १।६ = वमन करता है
बम्भ ४।१२६ = ब्रह्मा
वपुरा ३।३३ = वेचारा
वर २।१०८ = श्रेष्ठ, बल
वरकर २।२०० = वलकर, वलात्
वरद्दह ४।११६ = बैल
बरु २।४६ = बल्कि
वलभद्द २।५१ = वलभद्र
वलभी २।६७ = सदर फाटक
वलया २।१०६ = वलय, चूड़ी
वल्लहा २।७८ = वल्लभा
वल्लीश्र २।१६६ = वली
वस २।२४१ = वसता है
वसाहन्ति २।१६१ = व्यवसाय करते हैं
वसइ २।१३५ = वसता है
वसन २।६२ = निवास
वहल २।२४३ = वहन किया
वहु २।११६ = वहुत
वहुत्त २।५७ = वहुत
वहुत्ता २।२३० = वहुत से
वहुफ्फाल ४।२०३ =
वहुल ३।१०१ = वहुत
वहूता २।१६६ = वहुत
वाकुले ४।४५ = वक्र ?
वाछि ४।४१ = बीछि-बाछि, चुनकर
वाज २।२४४ = वजती हैं
वाजू २।१६४ = वाजू, तरफ
वाढल ४।५३ = वढ़ा हुश्रा
वणिज ३।१२० = वणिक
वाधा ३।१२५ = कष्ट
वानिनि २।११६ = वनियाइन
वाप ३।१८ = पिता
वापुर १।१११ = बेचारे
वारिगह २।२३६ = जलघर, तम्बू ?
वालचन्द १।६ = द्वितिया का चन्द्र
वाहि २।१८४ = बाँह, भुजा
वास २।१६२ = निवास
वाहइ = २।१७१ वहन करता है
वाहर २।११६ = वहिः, वाहर
वाँकुले ४।४५ = वाँका, वक्र
वाँग २।१६४ = श्रजान
वाँट २।२०१ = राह, वर्त्म
वाँदि ३।१०४ = वाँदी, नौकरानी
वाँधा ४।४६ = वाँधा हुश्रा
वि ३।५१ = श्रपि, भी
विश्रष्खण ३।६० = विचक्षण
विश्रष्खनी २।१५२ = विचक्षणी
विश्राही ४।६७ = व्याहता
विक्कणइ २।११८ = बेचते, विक्रय
विक्कणथि २।११४ = विक्रय करते हैं

विका ३।११० = विक्रय, हुआ
= विका (खड़ी)
विकाइबा २।१०७ = विकने
भल २।२४१ = भला
भलओ १।३ = भला
भव्य २।२३५ = भव्व
भक्खिअ ३।१०६ = भक्षित, खाए
भा २।६६ = हुआ
भाग २।१४८ = भाग, हिस्सा
भाँग २।१७४ = भंग
भागए २।१४८ = भागना
भग्गसि ४।२५० भागते हो
भागि ३।७५ = भागकर
भाँगि २।२०७ = भंग कर के
भाणा ४।१२३ = भान, आभास
भाँति २।११३ = भाँति
भान २।२१२ = मालूम, प्रतीत
भारहिं ३।४० = भार से
भावइ २।१८७ = भाता है
भासा १।८ = भाषा
भास ओ २।४५ = भासं, कहूँ
भिक्खारि २।१४ = भिक्षाकारिक
भित्त ३।११२ = भृत्य
भित्ता ३।१२१ = भृत्य
भीतर २।८० अभ्यन्तर
भीति २।८० = भीत, दीवाल
भुअ ३।३५ = भुज
भुअण २।१४८ = भुवन
भुंजइ १।२८ = भोगता है
भुज्जहु २।२७ = भोगो
भुलेओ २।८४ = भूली
भुवंग २।१३४ = भुजंग वेश्यागामी
भुववै १।५० = भुजपति, राजा
भुक्खे ३।११६ = भूख से बुभुक्षा
भूखल ४।११६ = भूखे हुए।
भूमिट्ठ ४।१६ = भूमीष्ठ
भेअ १।८ = भेद
भेल २।१२८ = हुआ
भेलि २।६७ = हुआ
भेले ३।६० = होकर
भेट्ट २।२२१ = भेंट
भै ३।८६ = होकर
भैसुर ४।२४७ = भातृश्वसुर
भोअण ४।७६ = भोजन
भोअना २।३५ = भोजन
भोग २।५५ = भोग
भौ३।३७ = हुआ
भौंह ३।३५ = भ्रू

म

मअ ३।७५ = मग, रास्ता
मंअगा २।१५६ = मातंग
मअरन्द २।८२ = मकरन्द
मइल्ल १।१८ = मैला
मंगइ २।१७६ = माँगता है
मगोल ४।७४ = मुग़ल
मछहटा २।१०३ = मत्स्यहाटक
मजेदे २।२२२ = मज़े, मर्यादा ?
मझु ३।१५ = मेरा
मज्झु २।३४ = मेरा
मञ्चो १।२२ = मंच
मंडिअ ३।१५८ = मंडित किया
मंडिआ २।८६ मंडित किया

मण्डन्ते २।१३६ = मंडन करते हैं
मतरुफ २।१८६ = एक गान, स्तुति, तारीफ
मन्ति ३।१२६ = मंत्री
मथाँ २।२०३ = माँथ पर, मस्तक पर
मदिरा २।२०६ = शराब
मध्यान्हे २।१०६ = मध्याह्न
मनहि १।७ = मनमें
मन्द २।१८२ = बुरा
मनुसाए ४।१३० = क्रुद्ध होकर
मनोरी ४।५० = घोड़े की गति
मम २ ४८ = मेरा
ममत्तयइ २।३३ = ममत्त्व से
मम्म २।३८ = मर्म
मसीद २।२०७ = मस्जिद
मषदूम २।१६० = मख़दूम
महाउश्रो ४।२६ = महावत
महि ३।३१ = पृथ्वी
महिसा ४।११६ = भैंसे
मही २।२०८ = पृथ्वी
महु ४।२२३ = मेरे
महुअर १।१७ = मधुकर
महुत्त २।२४६ = मुहूर्त
माए २।२३ = मातृ
माग २।१८० = माँगता है
माझ २।१४६ = में
माअे ३।१२८ = माता
माँडि २।११६ = मंडित कर
माणा ४।१२२ = मान
मणिक ४।६ मलिक
माथे २।२४३ = माँथे पर
मानइ २।३७ = मानता है
मानुस २।१०७ = मनुष्य
मारन्त २।८ = मारते हुए
मारल २।७ = मारा
माँगि ३।११७ = माँगकर
माहव४।२३८ = माधव
मिट्ठा १।२१ = मिष्ठ
मिलइ २।७६ = मिलता है
मिलए २।१५५ = मिलना
मिलल २।१६२ = मिला
मीर २।१६६ = मीर
मीसिपीसि २।१०७ = मिस पिस कर
मुकदम २।१८४ मुकद्दम, मुखिया ?
मुक्कओ २।४४ = मुक्त करूँ
मुज्झु ३।१३० = मेरा
मुझ ३।१२८ = मेरा
मुल्लहिं २।६० = मूल्य से
मुले ४।४४ = मूल्य
मुलुक्का २।२१७ = मुलुक्क
मेइनि १।७७ = मेदिनी
मोजा २।१६४ = मोजा
मेआणे २।२३६ =
मेट्टिअ ३।११ = मेटा मिटाया
मो ३।६८ = मेरा
मोर २।३२ = मेरा
मोरहु २।४२ = मेरा
मोहिआ २।८२ = मोहित किया
मोहन्ता २।२३१ = मोहते हैं
यणावओ १।१३ = जनाऊँ
यन्त्र २।८५ = यन्त्र
यम ३।१५३ = यमराज

यज्ञोपवीत २।१०६ = यज्ञोपवीत
यात्राहुतह २।१०६ = यात्रा से
युवराजन्हि १।७० = युवराजो

र

रअणि ३।४ = रजनी
रज्ज २।४८ = राज
रज्जह २।३३ = राज की
रज्जलुद्ध २।६ = राजलुब्ध
रजा २।६४ = राजा
रणरोल २।८ = रणरोर
रति २।४७ = आसक्ति, सम्बन्ध
रथ ३।७० = रथ
रमनि २।६ = रमणी
रसाल १।४४ = रसपूर्ण, आम
रसिकें २।१४६ = रसिकों से
रष्खओ २।४७ = रक्खूं
रह ३।६० = रहता है
रहइ २।१८३ = रहता है
रहऊँ ३।४८ = रहे
रहट घाट २।६७ = रँहट ?
रहसें १।३० = एकान्त में
रहहि २।२२६ = रहते हैं
रहि २।२२३ = रह रह कर
रहिअउ ३।११६ = रहे
रहै २।१८४ = रहता है
रा २।१५ = राय, राजा
राअ २।१२३ = राज, राजा
राआ २।२२८ = राजा
राअह २।५२ = राजा का
राअहु २।२३३ = राजा भी
राअन्हि २।१४८ = राजों

राए ३।६ = राय, राजा
राउ ३।१६१ = राजा
राउत २।२२५ = रावत
राउत्ता २।२३० = रावत
राओ ३।६० = राजा
राङ्क २।२३३ = रंक
राखेहु १।४४ = रक्खो
राखै ३।१६१ = रखता है
राजे १।७८ = राजा ने, राज में
राजनीतिचतुरहु २।३२ = हे राज नीत चतुर
राजपुत्त २।११२ = राजपुत्र
राना २।२२५ = राणा
रामदेव ३।१२४ रामचन्द्र
रामकुमार ३।६४ = राजकुमार
रिउँ ३।३० = रिपु
रिज २।११६ = ऋजु
रिथ्थि ४।१२ = ?
रिसिआइ २।१८० = रिसियाता क्रोध करत
रीति ३।१२४ = रीति
रैयत ३।६० = रैअत, प्रजा
रुट्ठ ३।१५३ = रुष्ठ
रुहिर ४।१५३ = रुधिर
रुहिण ४।११२ = रुधिर
रूपें २।२३१ = रूपेण, रूप से
रूप २।११५ = रूप
रूसलि १।८६ = रूठी
रोजा २।१६७ = रोजा
रोमं चिअ ३।३५ = रोमांचित
रोस ३।२५ = रोष
रोर २।११२ = रोर, शब्द

षणे ३।३७ = त्तण
षराब २।१७८ = ख़राब
षरीदे २।१६६ = ख़रीदता है
षाइतें ४।८७ = खाते हुए
षाए २।१७४ = खाता है
षाण २।२२२ = खान
षास २।२३२ = खास
षीसा २।१६८ = बटुवा, दस्ताना
षेत ४।१६१ = खेत, क्षेत्र
षुन्दकार ४।७५ = काज़ी, मालिक
षुन्दकारी २।१६१ = काज़ी का
षाँचि ४।६० = छाँटकर, खींचकर ?
षोजा २।१६६ = खोजा, ख्वाजा
षोआराह २।२४० = भोजनगृह
षोरमगह २।२४० = शयनगृह

स

सअद २।१८८ = सैयद
सअल ३।८० = सकल
सआनी २।१३८ = सयानी, चतुरा
सइदगारे २।२० = सैयदगार
सइल्लार २।१६६ = सालार
सए २।३२ = शत
सएल २।२३२ = सकल
सक्कय १।१६ = संस्कृत
सकता ४।६६ = शक्तिवान्
सकलओ ३।७ सकल, सभी
सख १।५६ = सखा, मित्र
सग्ग ३।१८ = स्वग
सगर ३।७८ = सकल
सच्चु ४।२ = सत्य
सजन २।१२ = सजन
सजह ४।१२ = साजो
सओ १।२४ = सउ, साथ
सञ्चरन्ते २।१२७ = संचरण कहते हैं
सञ्चरिआ ४।२ = संचरण किया
सञ्चारे २।१४३ = संचारण से
सत्त १।३० = सत्व
सत्ति १।३४ शक्ति
सत्तु ४।१६१ = शत्रु
सत्तुक २।३५ = शत्रुका
सत्तुघर ३।७६ = शत्रुगृह
सत्तू ४।१८० = शत्रु
सथ्थ ३।८४ = साथ
सथ्थसाथहिं २।८८ साथ, साथ
सद २।८ = शब्द
सदय ३।६१ = सदय
सदर २।२३६ – सदर
सधम्म ३।६१ = सधर्म
सन २।२३७ = साथ
सन्तु २।२३४ = शान्त
सन्तरु २।७४ = सन्तरण किया
सन्न ३।११६ = साथ
सन्नाहा ४।१७६ = सनाह, कवच
सप्पफण ३।१५३ = सर्पफण
सपुन्न १।३७ = सपुण्य
सब २।२४० = सब
सबे २।११४ = सब
सवहि ३।४० = सबको
सब्ब २।१८८ = सब
सब्बउँ २।१५२ = सब
सब्बओ २।२२५ = सभी
सव्वस्स २।११८ सर्वस्व

सव्वहीं २।६२ = सब को
सभासइ १।६८ = सभासता है, कहता है
सभावहि ३।१०६ = स्वभाव से
सम २।१८५ = समान
समर १।४३ = युद्ध
सम्मत २।४६ = सम्मति
सम्मद्दि १।४३ = सम्मर्दित करके
सम्मद्दे २।२१६ = सम्मर्दन, भीड़ में
सम्पइ १।२६ = सम्पत्ति
समप्पिअ २।२२ = समर्पित किया
सम्पओ २।२० = सौंपूँ
सम्पलहु २।३८ = संपलो, तैयार हो
सम्पर्कें ४।४६ = सम्पर्क से
सम्बल २।६६ = सम्बल
सम्पलइ ३।८४ = चलते थे ?
समाइ ३।२ = समाया
समाण ३।१४६ = समान
समानल १।५६ = सम्मानित किया
समिण २।१८१ = खाने की चीजें
सालण २।१८१ = ,,
समिद्धि २।७६ = समृद्धि
सन्नग्गह ३।१५६ = जारी करना ?
सरण १।५२ = शरण
सरमहु ४।१७२ = शर्म ?
सरबस ३।८७ = सर्वस्व
सराब २।१७८ = शराब
सराफे २।१६४ = सराफा
सरुअ १।३० = सरूप
सरमेरा ४।७२ = सम्मिलित, शर्म ?
सरोसान ४।२०५ = सरोष ?
सलामो २।१६० = सलाम, बन्दगी

सवतहु ३।४१ = सर्वत्र, सभी ओर से
सवे २।६० = सब
ससँर २।१४८ = सस्वर
सत्तु ४।२३८ = शत्रु
सह ३।८६ = सहता है
सहस ३।१५० = सहस्र
सहसहिं ४।८१ = सहस्रों में
सहि ३।११६ = सहकर
सहिज्जिअ ३।१५३ = सहिए
सहोअर ३।१३५ = सहोदर
साअर २।२२४ = सागर
साकम २।८३ = संक्रम, पुल
साज २।१०६ = सजाया, साज
साजि ४।४२ = साजकर
साति २।३५ = शांति, कल्याण, प्रकाश
साध ३।१२६ = साधा, किया
सामर ४।११३ = श्यामल, साँवर
सामिअ २।३ = स्वामी
सार १।२३ = सारतत्त्व
सारन्ता ४।१८० = गर्व करते हुए, सार
सारिआ ४।४१ = गर्व करके
सारे ओ १।८१ = गर्व किया (अहंकार के साथ प्रयुक्त)
सार्थ २।१३६ = साथ
साबर ४।६० = शबर
साहउ २।१४८ = शासन किया
साँठे ३।३८ = साथ, निज का ?
सिआन २।२४८ = सयान, चतुर
सिक्खयइ २।२४ = सिखाता है
सिज्झइ ३।५५ = सिद्ध होता है

सिज्झिहइ ३।५१ = सिद्ध होता है
सिट्ठ २।२४६ = श्रेष्ठ
सिट्ठाअत ३।८ = प्रतिष्ठापित हो
सिरि ३।११८ = श्री
सिंगिन ४।६७ = बारूद भरने की
सीवां ३।८६ = सीमा
सुअण १।२६ = सजन
सुजाण ३।१४५ = सज्जन
सुठाम २।१५५ = सुन्दर ठाम, स्थान
सुन १।२३ = सुनो
सुनओ २।१५६ = सुनो
सुनि ३।१२८ = सुनकर
सुनिअ ३।३४ = सुनकर
सुनु ३।६८ = सुना
सुभोअण २।१५५ = सुभोजन
सुभवअन १।३६ = शुभवचन
सुमर २।६० = स्मरण किया
सुमरि २।१८ = स्मरण करके
सुमरू ३।१०६ = स्मरण किया
सुमहुत्त ३।१५ = समहुत, मुहूर्त्त
सुपुरिस १।३६ = सुपुरुष
सुष ३।१० = सुख
सुराए २।६ = सुरराज
सुरसा १।१५ = सुरस वाली
सुरतान २।२२१ = सुलतान, सुरत्राण
सुरुतानी ३।६६ = सुल्तान की
सुष्खेवेअ ४।२४२ = सुख
सुहव्वा २।२३१ = सुभव्य
सुहिअ ३।५६ = सुहित
सुहेन २।३ = सुखेन
सूर १।२१ = शूर
सेएण ३।६५ = सेना
सेर ३।२३ = शेर
सेरणी २।१८८ = स्वैरिणी
सेरे ३।६१ = सेर
सेव १।४६ = सेवा
सेवइ ३।३० = सेवा करता है
सेविअ ३।११३ = सेवा की
सैचान ४।१३३ = श्येन, बाज
सो १।१६ = वह, सः
सोअइ २।४० = सोता है
सोअर ३।४५ = सहोदर
सोखि ३।७६ = सोख कर
सोग ३।१४७ = शोक
सोझ २।७२ = सीधा
सोदर ३।१२२ = सहोदर
सोनहटा २।१०२ = स्वर्णहाटक
सोना क ३।६६ = स्वर्ण का
सेन्नि ४।४८ = सेना
सोवारी २।६७ = दुकानों की पंक्ति
सोहइ १।११ = शोभित है
सोहणा ४।३१ = शोभन
सोहन्ता २।२३० = शोभते हुए
सोहिआ २।८१ = शोभित था
सौभागे २।१३२ = सौभाग्य
संक ३।७८ = शंका
संकास १।६१ = संकाश, साथ
संख ३।६५ = संख्या
संग २।५० = साथ
संगर २।४४ = संग्राम
संगाम १।२७ = संग्राम
संघलिअ ४।१८३ = टक्कर होती

संचर २।१११ = संचरण करता
संचरिअ ३।४० = संचरित हुआ
संपजइ ३।११६ = देता है
संपलिअ ४।१३ = चलाया
संभरइ ३।१११ = मिलता
संभिन्न २।१०२ = संभिन्न, पूर्ण भरा हुआ
संमद्द २।१०६ = मर्दित कर
सम्वरिअ ४।१२५ = संवरित
साँध १।२०६ = साधते थे, बनाते थे

ह

हचड़ ३।४२ = रौंदना, कोलाहल ?
हजारी २।१५६ = हजार
हओ ४।४ = हउं, हौं, मैं
हथल ३।१३० = हाथ ?
हरँख ३।७३ = हर्ष
हर १।११ = शंकर
हरघर २।८६ = हर गृह, शिवालय
हरिज्जइ ३।५६ = हरता है।
हस २।१४२ = हँसता है
हसि २।१३८ = हँस कर
हट्ट ३।१२० = हाट
हाट २।११३ = हाट, बाजार
हासह ४।८४ = हास्य
हासा १।१० = हँसी
हारल २।६ = हारा हुआ
हाथि २।१११ = हाथी
हा हा २।८ = हाय ध्वनि
हिअ ३।११ = हिय, हृदय
हिंडोल २।२४९ = हिंडोल, झूला
हिराडए २।११३ = घूमता है, हींड़ता है
हिंसि ४।३७ = हींस कर
हीनि २।१६ = हीन, वंचित
हेडा २।१७६ = गोश्त (देशी)
हरेहिं २।८८ = देखता हैं
हेरइ २।६३ = देखता है
हेरन्ते २।१३८ = देखती हैं
हेरा २।१३५ = हर्रे, हल्दी
है २।१८० = है
हुअ २।८ = हुआ।
हुआसन १।५७ = हुताशन
हुकुय २।१६१ = हुक्म
हुअउं ३।४ = हुए
हो २।११२ = होइ, होता है
होअ २।१४६ = होता है
होइ २।१२ = होता है
होए १।८ = होता है
होणा २।५६ = होना, होने
होसउँ ३।३२ = होना चाहिए
होसइ १।१५ = होगी
हौं १।३६ = मैं

सहायक साहित्य

१. उपाध्ये, आदिनाथ : लीलावई, कोऊहल, सिंघी जैनग्रंथ माला १९४९ ई०

२. केलाग आर०एस०एच० : ए ग्रैमर आव् हिन्दी लैंग्वेज़, लंदन १८९३ ई०

३. ग्रियर्सन, जार्ज अब्राहम : १. लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया भाग १
२. आन दि मार्डन इण्डो वर्नाक्यूलर्स (इंडियन एंटिक्वैरी १९३१-३३)
३. मैथिली डाइलेक्ट

४. गुणे, पाण्डुरंग : भविसयत्तकहा धनपाल, गायकवाड़ सीरीज बड़ौदा, १९२३ ई०

५. गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा : पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, पुनर्मुद्रण २००५ सं०

६. घोष, चन्द्रमोहन : प्राकृत पैंगलम्, बिब्लोथिका इंडिका संस्करण १९०२ ई०

७. चटर्जी, सुनीतिकुमार : १. दि ओरिजिन एंड डेवलेपमेंट आव बैंगाली लैंग्वेज़, कलकत्ता १९२६ ई०
२. वर्णरत्नाकर की अंग्रेजी भूमिका, बिब्लोथिका इंडिका संस्करण १९४० ई०
३. उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा स्टडी सिंघी जैन ग्रंथ माला, बम्बई १९५३ ई०
४. इंडो ऐर्यन एंड हिन्दी, १९४० ई०

८. जिन विजय मुनि : १. उक्ति व्यक्ति प्रकरण सिंघी जैन ग्रंथमाला, बम्बई
२. सन्देश रासक, सिंघी जै० ग्रं० १९४५ ई०

९. जैन, हीरा लाल : १. पाहुड़ दोहा, कारंजा जैन ग्रंथमाला १९३३ ई०
२. सावयधम्मदोहा का० जै० ग्रं० १९३२ ई०

१०. ठाकुर शिवनन्दन : महाकवि विद्यापति

११. डिवेटिया एन, वी० : गुजराती लैंग्वेज़ एंड लिटरेचर, पूना १९३१ ई०

१२. तेसीतरी एल० पी० : नोट्स ग्रान ग्रोल्ड वेस्टर्न राजस्थानी इंडियन एंटिक्वैरी, १६१४-१६ ई०

१३. तगारे, ग० बा० : हिस्टारिकल ग्रैमर ग्रव् ग्रपभ्रंश, पूना १६४८ ई०

१४. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल, पटना १६५२ ई०

१५. नाहटा, ग्रगरचन्द : १. वीरगाथा काल का जैन साहित्य, नागरी प्रचारिणी पत्रिका ४६।३
२. दशार्णभद्र कथा, यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी जर्नल, भाग १२

१६. पंसे, एम० जी० : लिंग्विस्टिक पिक्यूलियार्टिज़ ग्रॉव ज्ञानेश्वरी बुलेटिन ग्रॉव डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना १६५१ ई०

१७. पिशेल, ग्रार० : ग्रामेटिक डेर प्राकृत स्प्राखों, स्ट्रासवर्ग १६५० ई०

१८. बानी कान्त काकती : फारमेशन ग्राव ग्रसेमीज़ लैंग्वेज

१६. बीम्स जान : कैम्परेटिव ग्रैमर ग्रॉव दि ऐरियन लैंग्वेज, प्रथम भाग १८७२ ई०

२०. भांडारकर, रामकृष्ण गोपाल : विल्सन लेक्चर्स

२१. भायाणी, हरिवल्लभ : सन्देश रासक की ग्रंग्रेजी भूमिका

२२. मिर्जा खाँ : ब्रजभाषा ग्रामर, जियाउद्दीन द्वारा सम्पादित शान्ति निकेतन, १६३५ ई०

२३मिश्र जयकान्त : हिस्ट्री ग्राव् मैथिली लैंग्वेज़

२४—रामलाल पाण्डेय : ग्राइने ग्रकबरी हिन्दी, संस्करण

२५—राहुल सांकृत्यायन : १. हिन्दी काव्य धारा, इलाहाबाद, १६४५ ई०
२. गंगा पुरातत्त्वाङ्क
३. पुरातत्त्व निबंधावली

२६—लालचन्द्र गांधी : ग्रपभ्रंश काव्यत्रयी, गायकवाड़ ग्रोरियंटल सीरीज बड़ौदा १६२७ ई०

२७—लोचन कवि : रागतरंगिणी

२८—वर्मा, धीरेन्द्र : हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १६४६ ई०

२६. वैद्य, परशुराम : १. प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र), पूना १६२८ ई०
२. जसहर चरिउ कां० जै० ग्रं० १६३१ ई०
३. महापुराण (पुष्पदन्त) मा० दि० जैन ग्रंथ-माला १६४१ ई०

३०—शास्त्री, हर प्रसाद : १. कीर्तिलता, बँगला संस्करण १६२४ ई०
२. बौद्ध गान ओ दोहा १६१६ ई०

३१—शुक्ल, रामचन्द्र : १. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, २००७ सं०
२. बुद्ध चरित की भूमिका
३. जायसी ग्रंथावली की भूमिका

३१—सक्सेना, बाबूराम : १. कीर्तिलता, नागरी प्रचारिणी सभा १६२६ ई०
२. इवोलूशन ऑव अवधी

३२—हर्मन जाकोबी : भविसयत्तकहा मुचेन, १६१८ ई०

३३—हार्नली, रूडल्फ : ग्रैमर ऑव् दि इस्टर्न हिन्दी

कोष एवं पत्रिकाएँ

१. इंडियन ऐंटिक्वैरी
२. जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी
३. बुलेटिन ऑव डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
५. रायल एशियाटिक जर्नल
६. आमेर भांडार प्रशस्ति संग्रह
७. इन्साइक्लोपीडिया ऑव् लिटरेचर, न्यूयार्क
८. विक्रम स्मृतिग्रंथ, उज्जैन

शुद्धि-पत्र

भूमिका

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२	मै	में
९	१३	संयद्द	संमद्द

विषय सूची

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	२१	wovel	vowel

प्रथम खण्ड

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२१	पाई जाती	नहीं पाई जाती
३२	७	इस शब्दों से	इन शब्दों के
३५	१८	तागरे	तगारे
३९	१२	श्रोद्र	श्रौड्र
४९	९	वर्तनान	वर्तमान
५५	११	wovel	vowel
६४	१४	च्चेयी	च्चेम
६८	२६	प्रत्यायन्त	प्रत्ययान्त
८६	२०	लष्वव	लष्व
९३	१५	श्रापक	पापक
९३	२०	सारी	सार

दूसरा खण्ड

पृ० सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१०	तो	जो
९	११	दर्य	दर्प
३०	८	स्फुरन्त्रितयः	स्फुरत्त्रित्रयः
४३	१२	मुल्लुका	मुलुक्का
४९	१६	हरुय	हय
९	२०	तेते	देते